



## ‘पगडंडियां’ उपन्यास (प्रस्तावित उपन्यास पर बातचीत : संजीव-शिवमूर्ति)

**पा**त्रों और घटनाओं की विविधता के चलते कहानी में औपन्यासिक विस्तार हो गया है और उसकी केंद्रीय धारा जगह-जगह शाखान्वित हो गई है जिससे मूल स्वर की Sharpness पर असर पड़ा है।

पहले तय कर लें कि कहानी ही लिखनी है या उपन्यास। यदि कहानी का प्रारूप देना है तो उसकी Sharpness के लिए यह वर्गीकरण कर लें—37 पृष्ठों की इस कथा में एक वह अंश जो कहानी की मुख्यधारा के लिए आवश्यक या सहायक है, दूसरा वह अंश जो मुख्यधारा से तनिक कटा हुआ या किंचित अवांतर है। मसलन, बेलसोना वाली का जीवनवृत्त, न्यूनतम मजूरी के लिए परवान चढ़े पति और कोई सवर्ण नेता, उसकी फसल का करिया सिंह द्वारा हड़पा जाना उसकी संघर्ष कथा में बच्चों की मर्मांतक मृत्यु और विलाप। कुल मिलाकर यह एक केंद्रीय धारा बनी। दूसरी ओर, पप्पू का किसी औरत को दूहने की धमकी जैसे प्रसंग, राजा-प्रजा के खेल जैसे प्रसंग और शुरू से आखिर तक ऐसे पैबंद—कहीं चटकीले, कहीं धूसर—ये तनिक कटे हुए प्रसंग हैं।

अब यदि 37 पृष्ठीय कथानक को कहानी बनाना है तो उसमें से केंद्रीय धारा और शाखाएं दोनों को अलग-अलग कर केंद्रीय धारा को एक कहानी तथा शाखाओं से दो या तीन कहानियां बनाई जा सकती हैं।

इसके प्रतिकूल यदि इसे उपन्यास का रूप देना है तो यह इस Form में आधा-अधूरा उपन्यास ही है। इसे संपूर्णता देने के लिए चरित्रों में और Vividness घटनाओं में और सगुंफन की जरूरत है। फिर करिया सिंह, चौधरी, तिवारी, मजदूर नेता और इतर पक्ष भी खुलकर समाविष्ट होंगे। प्राकृतिक परिवेश भी, तनिक, इतिहास भी भूगोल के साथ-साथ, परंपराएं और वक्त की करवटें और आहटें तथा जीवन-मूल्यों पर पड़ने वाले दबाव भी।

आपकी ‘अकालदंड’, ‘कसाईबाड़ा’, ‘भरतनाट्यम’, ‘सिरी उपमा जोग’, ‘तिरिया-चरित्त’ से ‘पगडंडियां’ तक मुझे लगा है, आप निरंतर औपन्यासिक दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

टाइप की भूलों पर मैंने 15-20 जगह कलम चलाई फिर छोड़ दी, कारण, इसे आपको फिर से लिखना ही है।

एक दिक्कत और लगी। अवध के गांवों में अब ऐसी भुखमरी शायद ही कहीं हो। अतः कथा की विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए इसे मौजूदा देश-काल-पात्र से जोड़ना ही होगा। ज्यादा मुश्किल भी नहीं है यह, माघ के महीने में ऐसे लोगों को दिक्कत हो ही जाती है जो भूमिहीन हैं और जिन्हें मजूरी नहीं करनी। बड़े किसानों के यहां जरा-जरा वर्तमान को छू-छिड़क देना भर है।

कहानी को बेलसोना वाली की Loud या ‘आरोपित क्रांति’ की बातों से बचाना भी जरूरी है। चुराने वाली घटना पर तो T.V. Film भी बन चुकी है। ऐसा ही प्लॉट

था—नायक एक बच्चा था। मैं अंत को लेकर इसीलिए काफी बेचैन था। अंततः एक उपाय सूझा है। इससे यह कहानी (केंद्रीय धारा को लेकर) बने या समष्टिगत उपन्यास एक अलग आयाम, शिल्प के लिहाज से भी सामने आता है। सोचकर देखें—

● 'एक कथावाचक या Narrator पात्र 'मैं' का समावेश।

● बेलसोना वाली के जीवनवृत्त के पहले के मोड़ सिर्फ उसका रह-रहकर गांववालों सियरहवा को जगाने की नाकाम कोशिश और बच्चों की मर्मांतक मृत्यु पर पूरे गांव की बुजदिलों, अपने वर्ग की समझौतापरस्ती, काहिली को सरापें (ऐसा करते आपने दिखाया भी है) और बच्चों की लाश को गाड़ने या जलाने न दें। यह कहते हुए रोष, करुणा, धिक्कार, शाप की मुद्रा में यह तुम्हारी आदमीयत की लाश है—यह यूं ही सड़ेगी तुम्हारी तरह।

जाहिर है अनाज-चोरी की घटना अब गौण हो जाएगी। वह इस पर भी कहे कि तुम लोग हद से हद चोरी ही कर सकते हो, लड़कर नहीं ले सकते। वैसा होता तो न तुम सबकी यह दुर्गति होती, न बच्चों की मौत होती, न मेरा मंसेधु लापता होता और न मैं सुहागिन होकर भी इस तरह विधवा हो जाती।

● 'मैं' वाला पात्र जानता है कि बेलसोना वाली की यह उम्मीद झूठी है कि उसका पति लौटकर कभी आएगा। वह फिर से आंदोलन संगठित करने के पूर्व ही पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है और जेल से ही कहानी Narrater कर रहा है।

● 'मैं' वाला पात्र कहानी के समापन पर कहता है—“आज दो दिन हो गए बेलसोना वाली की एक बच्ची की लाश को सड़ते हुए। बाग-बगीचे गंधा रहे हैं। खेत-खेतार गंधा रहे हैं। घरों के लोग

## संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में ग्रामीण भारत

### अवधी

झिरझिर बरसै झांझरि चूवै मोर मकनवा ना  
धना छोड़ि पिया लुभाने मधुबनवां ना।

### मगही

मोहि तजि कंता

जाय परदेश

उमड़ू तू गंगा माई हे।

(मुझे छोड़कर मेरा पति परदेस जा रहा है। ऐ गंगा माई तुम ऐसी उमड़ो कि उसका जाना रुक जाय।)

### भोजपुरी

रुनझुन खोला न केवड़िया, हम विदेस जइबो ना।

जौ तूहू राजा जइबो विदेसवा, तू विदेसवा जइही ना।

हमरे भइया का बुला द, हम नइहरवा जइबो ना।

जौ तू रानी जइबू नैइहरवां, तू नइहरवां जइबू ना।

हम गहनवां लेबो ना,

जतना गढ़ल बा गहनवां हम गहनवां लेइबो ना।

जौ हे राजा! तूहू गहनवां लेइहौ, तूहू हां गहनवां लेइहो ना

जैसन बाबा घरवां रहलीं वैसे करके जइहौ ना।

(हे रुनझुन पायल बिछुओ वाली, द्वार खोलो मैं विदेश जाऊंगा। यदि तुम विदेश जाओगे तो मेरे भाइया को बुला दो मैं मायके जाऊंगी। अगर तुम मायके जाओगी तो मेरे गहने वापस कर दो। तुम अगर मेरे गहने वापस लोगे तो जैसे मैं अपने पिता के घर से (नवयौवना) आई थी ठीक वैसा ही मुझे फिर से कर जाओ।

गंधा रहे है। पूरा गांव गंधा रहा है। चौवाई बह रही है—दुर्गंध दिशा-दिशा में फैल रही है। मैं जेल के अंदर से महसूस कर रहा हूं उस दुर्गंध को, जैसे बच्ची नहीं, पूरा गांव सड़कर बदबू दे रहा हो। पता चला है, पुलिस गई थी पर सीने से लाश चिपकाए बेलसोना वाली को कांस्टेबलों ने इसलिए गिरफ्तार करने से मना कर दिया कि वे सवर्ण हैं, मरा नहीं छुएंगे हरिजनों ने इनकार कर दिया है—इस पर उनका संस्पेंसन भी होना वाला है।

अंत में—

‘पाठको, इसके आगे यह कहानी

किधर जाएगी, मुझे खुद पता नहीं...लाश सड़ती-गंधाती रहेगी, सरकार या पुलिस कोई उपाय करेगी या सड़ती लाश या सियरहवा गांव। जिसकी नसें नसतोड़ बिंदु पर आ गई हैं, चटक उठेगा, कुछ भी हो सकता है। प्रसववेला सा सारा कुछ आशा-संशय से भरा है। जब तक ऐसा नहीं होता, मैं क्या कहूं? पर यकीन मानिए जैसे ही कुछ हुआ मैं आपको जरूर खबर करूंगा।’

उस कथानक में एक नहीं अनेक चटकीले मनोवैज्ञानिक प्रसंग हैं पर उन्हें सही ढंग से उपयोग में लाना पड़ेगा। हां, एक संशय जैसा...चुभ रहा है—चने का साग खाकर गन्ने का रस पीने या चूसने पर पेट झरने लगता है—इसे यूं कर सकते हैं कि वे सभी रह-रह कर खेतों में जाते पर इसके सिवा उसके पास कोई उपाय न था। कहानी या उपन्यास के अतिरिक्त यह एक लंबी कहानी भी हो सकती है पर जैसा सोचें, वैसा ही करें।

यह सब मेरे सुझाव मात्र हैं। कहानी के सर्जक आप हैं—स्वयं समर्थ हैं। मुझे बस इतना कहना है कि कोई झोल न रह जाय। कहानी ‘भूख’ पर केंद्रित है तो भूख का Contrast भी आए—जैसे बेलसोना वाली को करिया सिंह के घर से ‘सोहारी’ की खुशबू आए। इस घी आदि की गंध में वह अपने हड़पे गए गेहूं की खुशबू को अलगाने की कोशिश करे। काश वह उसे अलगाकर अपने बच्चों के कंठ में उड़ेल पाती।

ऐसे गांव में आपसी संशय की भावना का न होना भी अस्वाभाविक है। कहानी में एक जगह है ऐसा प्रसंग। फिर से लिखने पर कहानी के बहुत से गड्डमड्ड भाव स्पष्ट आकार लेने लगेंगे, वही जरूरी भी हैं—खासकर अपने Reputation को देखते हुए।

□



# ‘तिरिया चरित्तर’ की नायिका के नाम पत्र

•  
शिवमूर्ति

**प्रि** य विमला,  
तुम कभी नहीं जान सकोगी कि तुम्हारे दर्दों की अभिव्यक्ति के लिए मैंने कहानी लिखी थी—तिरियाचरित्तर। उस कहानी पर बहुत विवाद हुआ था। कुछ ने इसे अश्लील, कुछ ने सत्यकथा, कुछ ने सफल तो कुछ ने इसे असफल कहा था। उस समय अधिकांश पाठक पूछते थे कि कहां से मिली इस कहानी को लिखने की प्रेरणा? क्या यह सत्य घटना पर आधारित है? विमली को न्याय क्यों नहीं मिला? आदि। क्या उत्तर देता ऐसे प्रश्नों का? उत्तर देना क्या इतना आसान होता है?

लेकिन बीती रात अचानक तुम सपने में मुझे दिखीं। उलाहना दिया कि क्या इतना ही कुछ कहने के लिए तुमने मुझे अपनी कहानी का आधार बनाया था। सपना टूटने के बाद से ही तुम मुझे अपने विविध प्रतिरूपों में याद आ रही हो। एक प्रतिरूप दूसरे में गड़मड़ हो रहा है। सपने से अदृश्य होने के पहले तुम्हारे चेहरे पर वही चिरपरिचित मुस्कान खेल गई जो बलिया जिले के तुम्हारे अल्हड़, भोली किशोरी वाले प्रतिरूप के चेहरे पर खिलती थी। ग्यारह-बारह साल की गोरी, पतली, लंबी लड़की। लाल होंठों और भोली हंसी वाली शरीर के विकास की उस अवस्था में कि लड़कों के कपड़े पहना दीजिए तो लड़का लगे, लड़की के पहना दीजिए तो लड़की। सबेरे पांच-छह बजे घर से झाड़ू लेकर निकलतीं तुम तो नौ-दस बजे तक खटतीं। बीच में किसी छांह में बैठकर बासी रोटी का कलेवा करतीं और हम लोगों में से किसी के घर से मिली चाय पी लेतीं। तुम्हें अपेक्षाकृत जल्दी तरुणाई मिली। तब तुम्हारे पीछे-पीछे तुम्हारी कंजी आंखों वाली छोटी बहन भी पूंछ की तरह डोलने लगी। उस समय तुम्हारे होंठों पर सतत खिली रहने वाली हंसी देखकर मन के किसी कोने में कभी-कभी एक इच्छा होती, काश! इस मुस्कान को शब्द दे सकना संभव होता।

फिर तुम ससुराल गईं और महीने-भर बाद लौटीं तो कुम्हलाई हुई। पत्नी के सरस मजाक पर हंसने-लजाने या झंपने के बजाय रो पड़ीं। बहुत कुरेदने पर भी तुमने कुछ नहीं बताया। कोई कुछ समझ नहीं सका। फिर ससुराल गईं और विदाई कराने के लिए गया तुम्हारा बाप दो बार अकेला वापस लौटा। विदाई न हो पाने का कोई सटीक कारण वह तुम्हारी मां को न बता सका। अचानक एक दिन खबर मिली कि तुमने फांसी लगा ली। बाद में पता चला कि तुम्हारी मर्जी के खिलाफ तुम्हारा जेठ तुम्हारा दैहिक शोषण कर रहा था। तुम्हारे कमजोर तथा दबू पति को उसने मारपीटकर घर से भगा दिया था तथा परिवार के अन्य लोगों ने मानो इसके लिए अपनी मौन स्वीकृति दे दी थी। फांसी लगाने तक तुम जिस दर्द के समंदर से गुजरी होगी, उसे शब्द देना तुम्हारी उस मुस्कान को शब्द देने से भी ज्यादा जरूरी लगा।

लेकिन बात टलती गई। वक्त गुजरता गया कि अचानक कई साल बाद जेठ की एक तपती दुपहरी में तुम नदवा सराय (आजमगढ़) के एक भट्टे पर प्रगल्भ युवा मजदूरनी के रूप में दिखीं। गुण के अनुरूप ही तुमने वहां नाम पाया था—बिच्छी। सचमुच तुम बिच्छू ही थीं।

उस दिन भट्टे की चढ़ान पर एक सिरे से मेरी जीप और दूसरे सिरे से कोयले से भरा डरेवर बाबू का ट्रक लगभग एक साथ ही पहुंचे। शायद तुम्हें बुलाने के लिए ही ड्राइवर बाबू अपना हॉर्न एक विशेष लय में बजा रहे थे। तुम मजदूरों वाली अपनी झोंपड़ी से निकलीं और हंसते हुए ट्रक की ओर बढ़ीं। तुम पीले गोटे वाला हरा घाघरा और लाल चोली पहने हुए थीं। तुम्हारे चेहरे का खिलंदड़ापन गायब न हो इसलिए मैंने अपनी जीप जहां की तहां रुकवा दी। इंजन बंद। ट्रक के सामने बीच रास्ते में तुम कमर पर हाथ रखकर खड़ी हो

गई। पास पहुंचकर ट्रक रुका तो उसके बंपर पर एक पैर रखकर मर्दाना गाली देते हुए तुमने डरेवर बाबू को ललकारा—सरऊ! इतने दिनों बाद! उतरो नीचे तो बांस करती हूं।

झाड़वर साहब हंसते हुए नीचे कूदे और हाथ जोड़ दिए। अट्टाईस-तीस की उम्र। चारखाने की लुंगी। सांवले, कसरती शरीर पर नीली बनियान। गले में लाल अंगोछा। तुमने आगे बढ़कर अंगोछे को पगहे की तरह पकड़ा और झाड़वर साहब को खींचते हुए झोंपड़ी की तरफ ले चलीं। पीछे-पीछे मजदूर लड़कियां और बच्चों का हुजूम।

इस दृश्य ने फिर तुम्हारे पहले प्रतिरूप की याद दिला दी। मुख्य रूप से इन्हीं दो प्रतिरूपों को एकाकर करने के लिए मैंने कहानी की शुरुआत की थी। मैं चाहता था कि तुम्हारा यह दबंग खिलंदड़ा बिच्छी रूप तुम्हारे किशोरी रूप के हिस्से में मिली प्रताड़ना पर भारी पड़ता दिखाऊं। जिन अंशों को लोग अश्लील कहते हैं, वह तुम्हारी इसी बिंदास छवि को मूर्त करने का प्रयास था।

लेकिन एक तीसरा दृश्यबंध भी था जो मेरे अंतर में बचपन से कहीं घर किए बैठा था। लिखने के दौरान इसने सिर उठाया और अंततः इसके चलते कहानी के उत्तरार्ध की धारा ही बदल गई।

यह तुम्हारा तीसरा प्रतिरूप था। दूर के रिश्ते में ममेरी बहन लगने वाली बीस वर्षीया निरक्षर दुखियारी सूरसती (सरस्वती) का, जिसकी कुंआरी कोख में अवैध गर्भ पल रहा था, जो अपनों और परायों का ताना-मेहना सुनते-सुनते गूंगी हो गई थी। शिला बन गई थी। तब मैं सात-आठ साल का रहा होऊंगा। वह जाड़े की शाम थी। हल्का-हल्का अंधेरा हो रहा था। मैं तप्ता (अलाव) जलाने के लिए घर के सामने महुए की सूखी पत्तियां बटोर रहा था, जब खेतों की ओर से अपने बप्पा के पीछे-पीछे तुम आती दिखाई दीं। सफेद मटमैली मरदानी धोती को साड़ी की तरह पहने, सिर झुकाए भारी कदमों से धीमे-धीमे मां से कुछ कहा। फिर मां तुम्हें लेकर घर के अंदर चली गईं। मामा भी बिना खाए-पिए थोड़ी देर बाद लौट गए। तुम सुबह-शाम अंधेरे में दिशा-मैदान के लिए बाहर निकलतीं

और दिन-रात अपनी अंधेरी कोठरी में पड़ी रहतीं। कभी-कभी मां या दादी तुमसे कुछ पूछतीं तो तुम्हारी आंखों से धारोधार आंसू बहने लगते। मुझे लगता जैसे ये प्रश्न जानबूझकर तुम्हें कष्ट पहुंचाने के लिए ही किए जाते हैं। तुम्हारा पीला निश्तेज चेहरा। बाहर निकला पेट।

जब कोई न होता तो अपनी जरूरत तुम मुझसे कहतीं—शिवमूरत भइया! हमको कहीं से एक पुड़िया कम्पला (खाने वाला तंबाकू) और थोड़ा-सा चूना ला देते। पैसे तो भइया मेरे पास एककौ नहीं हैं। मैं मां की चोरी, घर का अनाज बेचकर तुम्हारे लिए चूना-तंबाकू लाता, जिसे तुम मां की आंख बचाकर ज्यादातर रात में खातीं।

बीस-पचास दिन बाद नहर पार वाले बाग में पंचायत बैठी। तुमने कई बार गांव में दोहराई बात को फिर से भरी पंचायत में बताया कि शाम दिशा-मैदान से लौटते हुए उस पड़ोसी युवक ने अपने एक साथी की मदद से बाग में तुम्हारा मुंह दबाकर पटक दिया था। मुंह छूटने के बाद तुम्हारे रोने की आवाज पर ही लोग पहुंचे थे और भागे हुए युवक को उसके घर तक दौड़ाकर पकड़ा था। पर पंचायत में उसने कसम खाकर कहा कि पेट में पलने वाला बच्चा उसका नहीं है। वह अपने दरवाजे पर सो रहा था, जब तुमने उसकी चारपाई के पास आकर उसे जगाया था और अपने हाव-भाव तथा क्रियाओं से उसे उत्तेजित किया था। फिर हाथ पकड़कर खींच ले गई थीं। उसने यह भी जोड़ा कि उस रात के पहले और उसके बाद में तुमने कब-कब किसे जगाया है, उसे नहीं पता।

यह पता लगाने के लिए कि वास्तव में तुम्हारे पेट में किसका बच्चा है, पंचों ने (जिनमें साठ साल के बूढ़े ही ज्यादा थे) तुम्हारे ऊपर तीर की तरह चुभने वाले, बेपर्द कर देने वाले प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी—पहले क्या हुआ? फिर क्या हुआ? तूने क्या कहा? उसने क्या किया?

पंचों के बीच फूला पेट लिए, सिर झुकाए, हाथ जोड़े तुम खड़ी थीं। कुछ देर तक तो उन बरछे जैसे प्रश्नों का उत्तर धीरज रखकर देती रहीं, फिर जो आंचल से मुंह ढांपकर कलपना शुरू किया तो लगा इस कलपन से आज धरती फट

जाएगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। तुम्हारे मूक हो जाने पर तुम्हारे अधेड़ बाप को खड़ा किया गया। उसके सिर पर एक जोड़ी फटी पनही रखी गई और जलील किया जाने लगा। एक हाथ से सिर पर रखी पनही के जोड़े को पकड़े और दूसरे को माथे से लगाए सिर झुका-झुकाकर बार-बार दोहोई दया और माफी की रट लगाता तुम्हारा बूढ़ा बाप। आरोपी युवक ने लगता है पंचों को काफी रकम कबूली थी। फैसले में सारा कसूर तुम्हारा ठहराया गया। बच्चे को पालने-पोसने का जिम्मा तुम्हारे ऊपर डाला गया और बेटी को चाल से बेचाल होने से न बचा पाने के दंडस्वरूप तुम्हारे बाप पर जुर्माना किया गया।

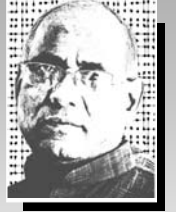
मेरे मन पर इस अन्याय का ऐसा प्रभाव पड़ा कि कहानी में होने वाली पंचायत में तुम्हें न्याय पाते दिखाने का साहस नहीं कर सका। तुम्हारे बिंदास रूप को सारे अन्याय पर भारी पड़ते दिखाने की इच्छा जाती रही। लगा कि ऐसा करना तुम्हारे प्रति अन्याय करना होगा।

फैसला होने के घंटे-पौने घंटे के अंदर ही वहीं बाग में तुम्हें मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ था। या कि पैदा होते ही मर गया था। उस नवजात को बाग के किनारे मिट्टी देने के बाद मां तुम्हें सहारा देते हुए लेकर घर पहुंचीं तो भोर हो रही थी। मैं पिताजी के हुक्के की डोर हाथ में लटकाए तुम दोनों के पीछे-पीछे चल रहा था। कोठरी में पहुंचकर तुम कुछ देर तक अपनी लाल सूजी हुई आंखों से मुझे ताकती रहीं, फिर मेरा सिर अपनी गोद में लेकर हिचक-हिचककर रोने लगीं। तुम्हारा आंचल आंसुओं से तर था और कमीज दुधैले पानी से। मेरे बाल भींग गए। इस कहानी में मैं तुम्हारे इस महादुख को मूर्त करना चाहता था। जैसे तेल में पनही सीझती है, तुम्हारे इस दर्द के समुंदर में पाठक के दिल को सिझाना चाहता था। लेकिन पता नहीं बात कहां हाथ से फिसली। उस दर्द का शतांश भी कागज पर नहीं उतार पाया। शायद इसके लिए ज्यादा ताकतवर कलम की दरकार थी।

(‘वर्तमान साहित्य’,

जनवरी-मार्च 1997 से साभार)

□



# अभी तो हम मुस्तैद पिछलववू भी नहीं हैं

## शिवमूर्ति

**रा** मजी राय अपने आलेख में जिसे दलित उभार कहते हैं उसके बीज हमारे समाज में प्रेमचंद के जमाने से हैं। 'गोदान' के सिलिया प्रसंग में चमारों द्वारा मातादीन के मुंह में हड्डी डालने का प्रसंग इसका सटीक उदाहरण और साहित्य की क्रांतिकारी घटना है। किंतु बाद में ऐसे दृष्टांत नहीं मिलते हैं।

दलित चेतना या उभार में क्या-क्या शामिल माना जाए? मेरे विचार से अपने प्रारंभिक रूप में इसे भूस्वामियों और दबंग आततायी सवर्णों से असहयोग, उनका काम करने से इंकार करने, दूसरे दौर में उनके अन्याय और अत्याचार के विरोध में उठ खड़े होने, अपने समाज में इनका विरोध करने की चेतना पैदा करने तथा अंतिम दौर में सत्ता-प्रतिष्ठानों पर कब्जा करने के रूप में देख सकते हैं। अपनी शिक्षा बढ़ाना, आर्थिक स्थिति में सुधार लाना, कुरीतियों से निजात पाना इस चेतना का एक अलग पहलू है। मुख्य मुद्दों पर विचार प्रासंगिक होंगे।

मुझे अपने बचपन की याद आती है, सन् 60-65 की। मेरे गांव की कुल आबादी के एक-चौथाई दलित हैं। मैंने उनके बुजुर्गों को अपने बच्चों से कहते सुना है—'बेटा, हमने बहुत मार-गारी सही है इन (सवर्णों) की। बहुत हाथ-पैर तुड़वाए हैं, तुम मत तुड़वाना। कलकत्ता, बंबई चले जाना। ठेलिया ठेलकर पेट पाल लेना लेकिन इनके हल की मुठिया मत थामना।' इसका नतीजा सामने आया। दलित युवक ज्यादा पढ़-लिख नहीं सके लेकिन सवर्णों की मजदूरी भी नहीं की, सब 'परदेस' निकल गए—कमाने। आज शायद ही कोई दलित किसी ब्राह्मण-ठाकुर का हल जोतता हुआ मिले। ट्रैक्टर वह जोत रहा है तो खुद सवर्णों के लड़के भी जोत रहे हैं। और शायद ही कोई दलित हो जिसने एक कमरा सही, पक्का न बनवा लिया हो।

यह तो हुआ सवर्णों के साथ असहयोग का एक रूप। शोषण और दमन के विरोध में उठ खड़े होने के उदाहरण भी कम नहीं हैं, मैं सात-आठ साल का रहा होऊंगा। एक ठाकुर से, जिनकी जमीन में, जमींदारी काल में मेरा घन बना था, किसी बात पर पिताजी का झगड़ा हो गया। उन्होंने मेरे खेतों पर कब्जा कर लिया। घर में ताला लगा दिया। कुछ दिनों बाद हम अपने घर में वापस लौटे और खेत के लिए मुकदमा चलने लगा। उन दिनों कभी-कभी मुकदमे की तारीख की शाम पिताजी के साथ कचेहरी से लंबी दाढ़ी-मूंछ वाले एक बाबा जी भी आते। वे दलित थे। उनके पास मात्र दस बिखा खेत था और उस पर उनके गांव के एक दबंग ठाकुर ने कब्जा कर लिया था।

मार डाले जाने के डर से उन्होंने बच्चों को ननिहाल भेज दिया। खुद अपनी व्यथा-कथा गा-गाकर भीख मांगने और उस ठाकुर से मुकदमा लड़ने लगे। मारे जाने के डर से वे हर पेशी की शाम रास्ता बदलकर चलते और ऐसे में कभी-कभार हमारे घर आ जाते। यह पूछने पर कि जब जान जाने का डर है तो क्यों लड़ रहे हैं, संतोष कर लीजिए (उनका नाम भी संतोषी था), वे कहते—'लंडूगा नहीं तब तो जीते-जी ही मर जाऊंगा बेटा। अपनी ही नजर में मर जाऊंगा। तब क्या मुंह लेकर जिंदा रहूंगा।'

डाकूओं की जिंदगी का अध्ययन करें तो आप पाएंगे कि अधिकांश दलित या पिछड़ी जाति के डाकू सामाजिक उत्पीड़न और अत्याचार के चलते ही डाकू बनते हैं। यह अपने मान-सम्मान के प्रति जागृत चेतना ही है जो उन्हें विद्रोही बनने के लिए प्रेरित करती रही है।

यदि गांवों में सांस्कृतिक और जमीन से जुड़े राजनैतिक संगठनों की पैठ पैतीस-चालीस साल पहले हुई होती, ऐसे अधिकांश डकैत इन संगठनों के समर्पित कार्यकर्ता होते, नछतर माली के आधुनिक संस्करण होते।

यह अकारण नहीं है कि फर्जी मुठभेड़ों में मारे जाने वाले डाकुओं का अस्सी प्रतिशत दलित और पिछड़ी जाति का तथा समर्पण करने वालों का अस्सी प्रतिशत सवर्णों का होता है। सवर्ण डाकू की 'ऐक्टिव लाइफ' दलित और पिछड़े की तुलना में तीन गुनी होने का कारण भी यही है कि हमारी पुलिस, नौकरशाही और राजनीतिक सत्ता सवर्ण मानसिकता की पोषक रही है, सांस्कृतिक आंदोलन का उदय जितना पहले होता, इस मानसिकता में परिवर्तन भी उतना पहले शुरू हुआ होता।

यह दलित उभार केवल शारीरिक प्रतिरोध तक ही सीमित रहा हो, ऐसा भी नहीं है। लगभग एक दशक पहले मेरे क्षेत्र में 'चैतू' नाम के एक दलित लोकगायक का उदय हुआ। अपने भाषणों और गीतों के माध्यम से पिछले एक दशक में अकेले इस एक आदमी ने दलित उभार का जितना काम किया उतना अब तक कोई बड़े से बड़ा संगठन भी शायद ही कर सका हो। भाजपा सरकार ने तो उसे अपने लिए इतना बड़ा खतरा माना कि उसके शासनकाल में उसकी सभाओं पर रोक लगाने के लिए हर उस जगह पर धारा 144 लगाई जाने लगी, जहां-जहां उसके भाषण और गीतों का कार्यक्रम रखा जाता (मेरे उपन्यास 'त्रिशूल' में यह पात्र 'पाले' नाम से आया है)। अभी तीन-चार महीने पहले मेरे ही क्षेत्र में एक दलित विद्रोही का उदय हुआ है। नाम है—जंगू।

दलित समाज उसे अपने 'रॉबिन हुड' की तरह देख रहा है। उसके पास क्षेत्र के ऐसे आतताइयों की (जिनमें लगभग सभी सवर्ण ही हैं) सूची है जिन्होंने जबर्दस्ती किसी कमजोर की जगह-जमीन हड़पी है या बहन-बेटी की बेइज्जती की है। वह ऐसे लोगों को अचानक पकड़ता है और

पेड़ की जड़ में फंसाकर उनका हाथ या पैर (जैसी सजा जरूरी समझता है) तोड़ देता है। कहते हैं एकाध दलित अन्यायी भी 'जंगू' की सजा से नहीं बच सके हैं।

ऊपर के उदाहरण एक सीमित क्षेत्र के हैं। निश्चय ही विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र की पड़ताल करने पर ऐसे अनगिनत उदाहरण मिलेंगे जो यह स्पष्ट करते हैं कि दलित उभार और प्रतिरोध के बीज हमारे समाज में शुरू से रहे हैं।

तब क्या कारण है कि हमारे साहित्य में यह प्रेमचंद के बाद मुखर होकर प्रतिबिंबित नहीं होता। मान लीजिए 'रेणु' जमींदार परिवार के थे। उनके वर्गहित दलितों के विपरीत जाते रहे हों। शिवप्रसाद सिंह स्वयं सवर्ण थे इसलिए दलितों के प्रति सहानुभूति तक ही पहुंच पाना उनकी सीमा रही होगी, पर मैं स्वयं से प्रश्न करता हूं कि मेरे लेखन में यह क्यों नहीं है? जबकि सामाजिक या आर्थिक रूप से मेरा वर्गहित कहीं भी दलित उभार के आड़े नहीं आता। 'पिछड़ा' भी हूं, भूमिहीन भी हूं। और बचपन से सवर्णों की ज्यादाती झेलता, भोगता, देखता भी रहा हूं। मुझसे उपयुक्त व्यक्ति कौन था इस उभार और विरोध को वाणी देने वाला? फिर क्यों मैं दोगम प्राथमिकता वाली समस्याओं में मगन रहा?

मैं अपना एक अप्रकाशित शुरुआती उपन्यास उठाकर देखता हूं, दलितों और पिछड़ों की समस्या पर सन् 1968 में लिखे गए इस उपन्यास में इतनी 'आग' है कि छूते ही हाथ जल जाए। फिर यह लेखन नेपथ्य में क्यों चला गया? इसके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है कि जिंदगी में जैसे-जैसे सुख-सुविधा बढ़ती गई, उस आग पर राख पड़ती गई।

तो क्या भोक्ता और श्रोता का 'सच' एक जैसा नहीं हो सकता? क्या दलित या पिछड़े द्वारा लिखा गया दलित साहित्य गैर दलित या पिछड़े द्वारा सहानुभूति में लिखे गए दलित साहित्य से हमेशा ज्यादा 'कैरेट' वाला होगा? तब एक प्रश्न यह भी उठेगा कि प्रेमचंद तो दलित नहीं थे।

जातीय वर्गीकरण में हममें से कुछ लोग 'अगड़े' भले हों लेकिन लेखक के रूप में हम सभी 'पिछड़े' हैं। ऐसा न होता तो जिस दलित उभार की धमक हम आज सुन रहे हैं, जब वह विकसित होकर पेड़ बन गया है, हमारी नजरों के आर-पार देखने में अवरोध बनने लगा है, उसमें 'सत्ता' का फल लग गया है, उसको तभी देख लेते जब दशकों पूर्व उसमें अंकुर फूट रहे थे। आगे-आगे मशाल बनकर चलने की कौन कहे, हम मुस्तैद पिछलगू तक नहीं बन सके। यदि हिंदी साहित्य को सन् 1940 से 60 के मध्य कोई प्रेमचंद जैसी चेतना का दलित लेखक मिला होता तो हिंदी में दलित साहित्य और दलित चेतना, दोनों की स्थिति आज मराठी से बहुत भिन्न न होती,

जिस सांस्कृतिक संगठन की जरूरत उनके लिए हम आज महसूस कर रहे हैं, इसकी जरूरत आज से ज्यादा उन्हें दो दशक पूर्व थी। कम से कम उत्तर प्रदेश के संदर्भ में मैं कह सकता हूं कि दलित चेतना को 'राष्ट्रीय चेतना' तक पहुंचाने में सांस्कृतिक संगठनों की भूमिका शून्य रही है। अभी सन् 1981-82 तक जब मैं पटना से प्रकाशित 'जनमत' के अंक अपने गांव के दलित और पिछड़े युवकों को देता था, उसमें प्रकाशित 'भूमि संघर्ष' और उससे जुड़े संगठनों के बारे में पढ़कर वे पूछते थे—ऐसे संगठन हमारे यहां क्यों नहीं है?

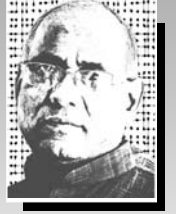
निस्संदेह आज भी उन्हें सांस्कृतिक संगठन की जरूरत है। पर आज उनके बीच राजनैतिक संगठन भी घुस गए हैं। न सिर्फ घुस गए हैं, वहां उन्होंने अपनी मांद बना ली है। ऐसे में सांस्कृतिक संगठनों को उनके मध्य अपनी प्रासंगिकता प्रमाणित करना ज्यादा चुनौतीपूर्ण हो गया है क्योंकि शुरुआती दौर में राजनैतिक संगठनों के मुकाबले सांस्कृतिक संगठनों की उपयोगिता उन्हें 'सेकंडरी' लगेगी।

(समकालीन जनमत,

16-30 नवंबर 1964 से साप्ताहिक)

□

# कठघरे में लेखक, संपादक और आलोचक



•  
शिवमूर्ति

**खे** तिहर समाज और श्रमिकों, बेरोजगारों के संकट और संघर्ष को हिंदी कथा साहित्य में समुचित प्रतिनिधित्व न मिलना आज का एक ज्वलंत प्रश्न है। सचमुच यह देखकर हैरत होती है कि किसान, मजदूर और दस्तकारों का इस देश की आबादी में अस्सी प्रतिशत हिस्सा है। अधिकांश बेरोजगार भी इन्हीं में से हैं फिर भी हिंदी कथा जगत में इनके जीवन का प्रतिनिधित्व एक प्रतिशत भी नहीं है। हिंदी में वर्तमान कहानीकारों की कुल संख्या को देखते हुए इन पर लिखने वालों की संख्या उंगलियों पर गिनने लायक भी नहीं है। युवतम पीढ़ी में तो यह प्रतिनिधित्व चिंताजनक ढंग से नगण्य हो गया है।

लेखक भी खरपतवार की तरह मिट्टी की उपज होता है, जिस परिवेश में वह पैदा होता है, जिसमें पलता-बढ़ता है, वही उसका वर्ण्य विषय बनता है, वहीं से अपनी प्राथमिकताएं तय करता है।

ग्रामीण क्षेत्र अथवा मजदूर-दस्तकार परिवार में जन्मे और पले-बढ़े आज के लेखकों को भी कालांतर में रोजगार के लिए शहर की ओर भागने को मजबूर होना पड़ता है। धीरे-धीरे पीछे छूटे अपने परिवेश से उनका तादात्म्य घटता जाता है। वहां की जिंदगी की नब्ज पर पकड़ ढीली पड़ती जाती है। लिखने के लिए उनके पास स्मृति का ही सहारा रह जाता है जिसकी कौंध भी वक्त के साथ मंद पड़ती जाती है और जो उसी ग्रामीण परिवेश में रहने और झेलने-भोगने को अभिशप्त होते हैं उनकी सारी ऊर्जा इन विषम परिस्थितियों से लड़ने में ही खर्च हो जाती है। उनके पास इतना अवकाश ही नहीं बचता कि वे अपने संघर्ष को रचना का रूप देने के लिए आवश्यक इत्मीनान और लेखकीय कौशल अर्जित कर सकें। धीरे-धीरे लेखन उनके सरोकार से बाहर चला जाता है। इस तरह उस समाज में संबंधित साहित्य का दोहरा नुकसान होता है, जो झेलता-भोगता है उसका लिखना छूट जाता है। जो लिखता है उसका झेलना-भोगना छूट जाता है। धारदार और स्तरीय लेखन के लिए आवश्यक दोनों कारक दोनों ही तरह के लेखकों के हिस्से में नहीं आते।

इस समाज पर लिखने वालों की संख्या तो कम है ही, इनके लेखन का परिमाण भी कम है। इस दृष्टि से इन लेखकों को कथा साहित्य में आई उदासीनता के लिए जिम्मेदार माना जाएगा। फिर प्रश्न उठता है कि जितना और जैसा इस समाज पर लिखा जा रहा है वह भी तो आलोचकों और संपादकों की ओर से समुचित तवज्जो नहीं पाता। कम लिखे जाने के पीछे इन दोनों की उदासीनता भी एक कारण है। फिर इन दोनों की उदासीनता के पीछे भी वही कारण होगा। जैसे लेखक जिस समाज में पैदा होता है, वहां की कहानी लिखता है, वैसे ही पाठक, आलोचक या संपादक जिस समाज में पैदा होता है उस पर लिखी रचना को अधिक पसंद करता है। इस समाज से आए आलोचक भी नगण्य हैं और संपादक तो शायद ही कोई हो, इसलिए न आलोचक न ही संपादक ऐसी रचनाओं पर ढंग की समीक्षा लिखने अथवा छापने के प्रति जागरूक दिखते हैं। इस नजरिए से इस उदासीनता के लिए आज के संपादक और आलोचक काफी हद तक जिम्मेदार सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि आज जिन साहित्यिक विमर्शों का डंका बजाया जा रहा है उनके केंद्र में इस दारुण और प्राणलेवा समस्याएं हैं ही नहीं।

(‘हंस’, अगस्त 2006 से साभार)

# मंच और मंचान (बाइस्कोपा)

## बासु चटर्जी से राजेश विक्रान्त की बातचीत



### राजेश विक्रान्त

कककक

- युवा डायरेक्टर आगे आएँ और 'तिरिया चरित्र' सरीखे विषयों पर फिल्में बनाएँ।
- एन.एफ.डी.सी. चाहे तो इस तरह की फिल्मों को बढ़ावा दे सकती है।
- एक स्त्री की आंतरिक संवेदनाओं को प्रकट करती है 'तिरिया चरित्र'।

—बासु चटर्जी

**भा** रतीय फिल्म जगत में बासु चटर्जी व हृषिकेश मुखर्जी के समान प्रशंसक हैं। दोनों ने संवेदनशील व ज्वलंत मुद्दों को फिल्मों के जरिए उठाया है। अजमेर, राजस्थान में जन्मे बासु चटर्जी ने 'कक्काजी कहिन', 'रजनी', 'व्योमकेश बक्शी' सरीखे सुपरहिट सीरियलों व 'कमला की मौत', 'स्वामी', 'रजनीगंधा', 'दिल्लीगी', 'खट्टा-मीठा', 'गुदगुदी', 'शौकीन', 'चितचोर', 'सारा आकाश', 'चमेली की शादी', 'मनपसंद' जैसी फिल्मों को अपनी प्रतिभा के जरिए एक नया आयाम दिया है।

नेशनल फिल्म डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन (एन. एफ. डी. सी.) के लिए बनाई गई 'तिरिया चरित्र' के बारे में उनसे हुई बातचीत के चुनिंदा अंश प्रस्तुत हैं—

**राजेश विक्रान्त** : फिल्म के लिए आपने शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्र' को ही क्यों चुना?

**बासु चटर्जी** : यह फिल्म बनाने के पहले मैंने 'हंस' में एक लेख पढ़ा था। वह लेख महिलाओं के प्रति पुरुष-समाज की हिप्पोक्रेसी को दर्शाता था। दरअसल, पारंपरिक रूप से पुरुषों ने महिलाओं को हमेशा से ही नीचा दिखाने का प्रयास किया है, यह प्रवृत्ति मुझे अच्छी नहीं लगती। इसलिए जब एन.एफ.डी.सी. की ओर से कोई विषय चुनने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा गया तो तुरंत मेरे मन में शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्र' का ख्याल आया। यह बहुत अच्छी रचना है।

**राजेश विक्रान्त** : 'तिरिया चरित्र' की क्या बात आपको ज्यादा पसंद आई?

**बासु चटर्जी** : पूरी की पूरी रचना। इसमें सभी चरित्रों की आत्मा को कायदे से विस्तार दिया गया है और खास तौर से मेरा मानना है कि 'तिरिया चरित्र' ने एक स्त्री की आंतरिक संवेदनाओं को बेहतरीन ढंग से प्रकट किया है।

**राजेश विक्रान्त** : इस फिल्म के निर्माण के दौरान क्या समस्या हुई?

**बासु चटर्जी** : किसी प्रकार की कोई नहीं।

**राजेश विक्रान्त** : और आपका अनुभव?

**बासु चटर्जी** : बढ़िया रहा। मैंने जो रचना चुनी थी, उस पर काम पूरा किया।

संपर्क : डी-10/7, जीवन शांति कॉलोनी  
सांतोकृज (प.), मुंबई-400054  
मो. : 9820120912  
email: rajeshvikrant@gmail.com.



### तिरिया चरित्र

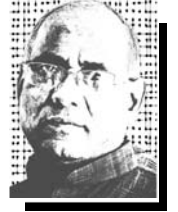
**प्रेमचंद**, रेणु या यशपाल से केवल कदम मिलाकर नहीं, बल्कि कई कदम आगे आकर शिवमूर्ति जैसे कथाकारों ने विषयवस्तु का जैसा विस्तार किया है, निःसंदेह उसने यथार्थ के अंधेरों और विसंगतियों को नई तरह से टटोला है। रूढ़ि परंपरा और नवीनता दोनों की शत्रु है। यह सही है कि कथा-साहित्य की नई धारा आज अपनी परंपरा का निर्माण कर रही है, मगर परंपरागत धारा ने भी एक समय अपनी नवीनता को परिभाषित किया था। तोड़-फोड़ यहां भी हुई थी—शिल्प के स्तर पर नहीं, बल्कि विषयवस्तु के स्तर पर। कैसे? यह जानने के लिए शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्र' को पढ़ना होगा।

रेणु की कहानी में हीरामन ने तीन कसमें खाई थीं। उसकी पहली और दूसरी कसम की भी कई कहानियां हो सकती थीं। मगर कहानी बनी तीसरी कसम से ही। क्योंकि लोक के भोलेपन और रूमनियत के एक स्वप्निल संसार को सिरजने की क्षमता इस 'तीसरी कसम' में ही है। ऐसा नहीं है कि स्वप्न और रूमन लोकजीवन में सिर से नदारद हों, और 'तीसरी कसम' एक झूठ हो। लोकजीवन की सांस्कृतिक समृद्धि उसके आंतरिक संगठन का अनमोल तत्व है। मगर इस जीवन की इंद्रधनुषी छटा में कलुषता की स्याही भी है। लोक भोला ही नहीं, धूर्त भी है। यह लोक जीवन का काला पक्ष है। उसकी मासूमियत भीतर पैटे घाघपन का त्राण नहीं हो सकती। 'कहानीकार' रेणु के यहां लोकजीवन की जो रंगीन झांकी है, उसमें चालाकी और षडयंत्र के यथार्थ की कालिमा का कोई स्थान नहीं। 'तिरिया चरित्र' में शिवमूर्ति इस कालिमा को दर्ज करते हैं, पहले से मौजूद बाकी दूसरे चटक रंगों के साथ। यह कहानी रेणु की कहानियों जैसा संवेदनात्मक असर तो पैदा नहीं करती, मगर अपने यथार्थ की एक मुकम्मल तस्वीर जरूर रच देती है।

दलित और नारी-चेतना के आविर्भाव के साथ 'तिरिया चरित्र' का संवेदनात्मक संस्पर्श एक खास अहमियत रखता है। दलित-विमर्श अवर्णों के संघर्ष को, दलितों के शोषण-उत्पीड़न के यथार्थ को, ब्राह्मणवादी और सामंतवादी शक्तियों के विरुद्ध निचले तबके के क्षोभ और विद्रोह को स्वर देता है। मगर 'तिरिया चरित्र' में विमली किसी सामंत या ब्राह्मण के हाथों नहीं प्रताड़ित होती, उसका ससुर बिसराम ही उसका बलात्कार करता है। विमली को न्याय नहीं मिलता क्योंकि वह एक स्त्री है। उसके विरोध में गांव की सारी जातियां एकजुट हो जाती हैं—सवर्ण और अवर्ण के भेद को मिटाकर। यह दर्शाता है कि जब स्त्री-अधिकारों का सवाल उठता है तो ऊंची जातियों की बात ही क्या, अवर्ण के दिमाग में ही सामंत और पंडित विराजमान हैं। लोक के भीतर ही शास्त्री मौजूद है। अपनी पतोहू को बस में करने के लिए बिसराम जो दांव चलता है, जैसे पैतरे दिखाता है, पूरे गांव को अपने पक्ष में गोलबंद करता है—यह सब लोक के रूमन को ध्वस्त करता है। पुरुषसत्ता का यही वह धरातल है जहां तमाम वर्णों और वर्गों के बीच की सीमाएं घुल जाती हैं। यह लोकजीवन का अमानुषिक यथार्थ है जिसका अक्सर शिकार बनती हैं स्त्रियां।

—प्रियम अंकित

(नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008 से साभार)



**राजेश विक्रान्त** : क्या आप इस फिल्म से संतुष्ट हैं?

**बासु चटर्जी** : ईमानदारी से जवाब दिया जाए तो पूरा नहीं। मैंने यह फिल्म एन.एफ.डी.सी. के लिए बनाई थी। मुख्य भूमिका के लिए नसीरुद्दीन शाह का चुनाव एन.एफ.डी.सी. की ओर से था। मेरी राय में मेनलीड में नसीर सही नहीं थे, दरअसल हर चरित्र-कैरेक्टर की एक खास मांग होती है और नसीर इसके लिए परफेक्ट नहीं थे। मैं मानता हूं कि इसके लिए पंकज कपूर या रघुवीर यादव ज्यादा फिट बैठते।

**राजेश विक्रान्त** : अब इस तरह की फिल्में क्यों नहीं बनतीं?

**बासु चटर्जी** : पैसा कौन लगाएगा? सरकार को चाहिए कि इस तरह की फिल्मों—संवेदनशील, ज्वलंत सामाजिक मुद्दों पर आधारित व साफ-सुथरी फिल्मों को प्रोत्साहित करे।

**राजेश विक्रान्त** : ऐसा तो नहीं कि आप ही रुक गए?

**बासु चटर्जी** : नहीं। मैं रुका नहीं। दरअसल हालात बदल गए हैं। इस प्रकार की फिल्मों की परियोजना की कर्ता-धर्ता एन.एफ.डी.सी. ने फंडिंग से पैर खींच लिए।

एक और बात यह भी है कि एन.एफ.डी.सी. ने फिल्में तो अच्छी व सार्थक बनाईं, पर उनकी मार्केटिंग ठीक ढंग से नहीं की गई। उदाहरण के तौर पर, 'तिरिया चरित्र' जैसी अच्छी फिल्म को कितने लोगों ने देखा है? ऐसी फिल्मों के लिए एन.एफ.डी.सी. बेहतर माहौल पैदा करने में नाकामयाब रही। आज भी कई बहुत अच्छी फिल्में डिब्बों में बंद पड़ी हैं।

दूसरी बात समय में हो रहा बदलाव भी है जिसमें 'तिरिया चरित्र' जैसी फिल्मों के लिए माहौल की कमी है, पर एन.एफ.डी.सी. चाहे तो इस तरह का माहौल बदल सकती है और ऐसी फिल्मों को बढ़ावा दिया जा सकता है।

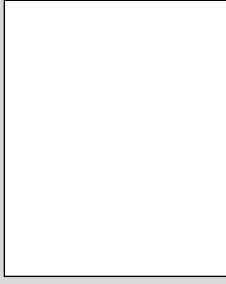
**राजेश विक्रान्त** : आज के डायरेक्टर भी तो ऐसा माहौल बना सकते हैं?

**बासु चटर्जी** : बना तो सकते हैं। पर क्यों नहीं बनाते, इसका उत्तर उनसे ही प्राप्त किया जाए। वैसे आज के युवा डायरेक्टरों से मुझे बड़ी आशाएं हैं, वे आगे आएँ और 'तिरिया चरित्र' सरीखे विषयों पर फिल्में बनाएं।

□

# साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध

(संदर्भ : शिवमूर्ति की कहानियों पर बनी फिल्में)



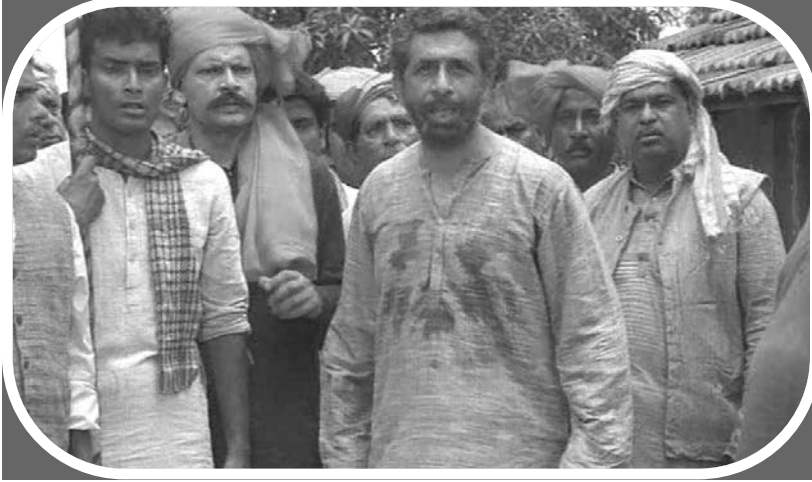
प्रहलाद अग्रवाल

संपर्क : कार्यकारी संपादक : हंस  
2/36 अंघोरी सेड,  
हरियाणा, नई दिल्ली 110002  
मो. : 9910021256

क हूं कि शिवमूर्ति हिंदी के सर्वाधिक पढ़े जाने वाले कथाकारों की अग्रणी पंक्ति में शुमार होते हैं तो इस स्वीकारोक्ति के बावजूद कि वे हमारे प्रिय कथाकार हैं—अतिशयोक्ति नहीं होगी। ‘तिरिया चरित्तर’, ‘कसाईबाड़ा’, ‘केशर-कस्तूरी’, ‘अकालदंड’ आदि कहानियां पाठक को मंत्रबिद्ध करने में इस तरह समर्थ हैं कि वह उनमें शुरुआत से अंत तक रमा हुआ कथा के साथ बहता चला जाता है। वे महज प्रबुद्ध पाठकों और आलोचकों के कथाकार नहीं हैं, किस्सागोई से अभिभूत होने वाले सामान्यजन के कथाकार सर्वप्रथम हैं। सत्तर के दशक के बाद समकालीन ग्रामीण जीवन की आधारभूमि पर आजाद भारत में भी निरीह बने रहे ग्रामीणों की व्यथा को अपने कथा साहित्य में गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करने वाले शिवमूर्ति के नारी-चरित्र विशेष रूप से अनेकानेक विडंबनाओं से जूझते हुए जीवन-सौंदर्य की उपलब्धि हेतु निरंतर संघर्षरत होते हैं। इससे उनकी नाकामियां भी पाठक को द्रवित करते हुए ओजस्वी अंतर्दृष्टि से समृद्ध करती हैं।

उनकी कहानियां जीवन की सामान्य स्थितियों में निहित संश्लिष्ट नाटकीयता को इस तरह परत-दर-परत उकेरती चलती हैं कि पाठक मात्र पाठक नहीं रह जाता, वह कथा-लोक का सहचर बन जाता है। उनके पात्र सजीव, मूर्तिमान होकर मुंहामुंही करने लगते हैं। यही कारण है कि समूचे हिंदुस्तान के रंगकर्मियों को उनकी कहानियों ने आकर्षित किया और ‘कसाईबाड़ा’ का नाट्य रूपांतरण अनेकानेक नाट्य मंडलियों द्वारा प्रस्तुत हुआ। अब तक इसके पांच हजार से अधिक मंचन हो चुके हैं। ऐसी शायद ही कोई दूसरी मिसाल कथा साहित्य में हो। उनकी कहानियों पर तीन फिल्मों का भी निर्माण हो चुका है। दिल्ली और लखनऊ दूरदर्शन केंद्रों द्वारा बनाई गई दो टेली फिल्मों ‘भरत नाट्यम’ और ‘कसाईबाड़ा’ के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध फिल्मकार बासु चटर्जी के निर्देशन में ‘तिरिया चरित्तर’ पर 1994 में इसी नाम से फीचर फिल्म का भी निर्माण हुआ था। इनमें से दो फिल्मों को देखने का सुयोग नवंबर 2010 में संभव हुआ—‘कसाईबाड़ा’ पर आधारित ‘कथा कसाईबाड़ा’ और ‘तिरिया चरित्तर’।

बिमल राय कहते थे कि शरत के कथा साहित्य पर फिल्म बनाने में सबसे बड़ी आसानी यह है कि वहां संपूर्ण पटकथा और संवाद स्वयमेव मिल जाते हैं और चरित्रांकन इतने स्पष्ट और सुदृढ़ होते हैं कि कलाकारों को भावाभिव्यक्ति के चरम तक ले जाने में निर्देशक समर्थ हो जाता है। शिवमूर्ति की कहानियों में दृश्य-श्रव्य माध्यम में सफलतापूर्वक परिवर्तित हो सकने वाले ये दोनों ही गुण मौजूद हैं। दोनों ही फिल्मों के निर्देशकों ने कथाकार की इस खासियत का भरपूर लाभ उठाया है। कथा को तनिक भी तोड़ा-मरोड़ा, उल्टा-पुल्टा नहीं है। इसलिए फिल्मकारों पर यह आरोप कतई नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने कथाकारों की कृतियों के साथ कोई अन्याय किया है। पर वे इसलिए निराश करती हैं क्योंकि वे दोनों ही फिल्में दर्शक को उस करुणाजन्य प्रगाढ़ अनुभूति तक ले जाने में समर्थ नहीं होतीं, जहां सामान्य पाठक भी इन कहानियों को पढ़कर पहुंच जाता है। ये फिल्में कहानी की ईमानदार प्रस्तुति अवश्य करती हैं किंतु दृश्य माध्यम की सामर्थ्य का कोई प्रभाव नहीं छोड़ पातीं। दर्शक कथा की संवेदना का सहचर बनने की जगह अंत तक पहुंचकर कुछ



कुमार की 1967 में बनी 'उपकार' के चरित्र 'मलंग', जिसे प्राण ने अभिनीत किया था, की याद दिलाते पवन झिंगरन, थानेदार बने रमेश

शर्मा सचमुच फिल्मी थानेदार बनने की कोशिश करते हुए, लीडर की लीडराइन बनी प्रियंका मोहन और सबसे बढ़कर लीडर बने अशोक सोनी 'मदर इंडिया' के सुक्खी लाला कन्हैया लाल के मिठबोले हरामी काइयांपन को समेटे अपनी भूमिकाओं को यथासंभव सजीव बनाते हैं। पर ये सभी कलाकार यदि सघन प्रभाव नहीं छोड़ पाते तो इसमें उनका शतांश और सिनेमाई प्रावधानों के अभाव का महत्तमांश जवाबदार है। वेशभूषा, साज-सज्जा, छायांकन और सेट आदि सभी बेहद साधारण कोटि के हैं। वे नाटकी जरूरतों के मुताबिक गढ़े गए मालूम होते हैं। खैरियत यही है कि सभी पात्र भी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुरूप ही परिचालित होते हैं। इसलिए यह फिल्म कम, नाटक अधिक महसूस होती है।

निहायत सरकारी कामकाज के हिस्से की तरह बनाई गई इस फिल्म में हर किस्म की सिनेमाई आवश्यकताओं के अभाव में भी यदि कलाकारों ने पात्रों की चमड़ी के भीतर तक उतरने की अच्छी, कम अच्छी जैसी भी, ईमानदार कोशिश की तो यह कहानी की शिद्दत का ही परिणाम है कि मांजने, तराशने के अभाव में भी कलाकार प्रभावित कर सके। इसीलिए हमने कहा कि 'कथा

रीता-रीता-सा ठगा महसूस करता है।

'तिरिया चरित्र' की अपेक्षा 'कथा कसाईबाड़ा' में निर्देशक सुशील कुमार दृश्य माध्यम की प्रभावोत्पादकता का लाभ उठाने में अधिक सफल हुए हैं। खास तौर से इसलिए भी कि 96 मिनट की कालावधि की यह टेलीफिल्म महज एक लाख रुपए के बजट में बनाई गई थी और इसे सिनेमा के निष्णात कलाकारों की जगह आकाशवाणी, दूरदर्शन और रंगमंच के कलाकारों ने अंजाम दिया। इससे एक बात यह भी प्रमाणित होती है कि साहित्यिक कृतियों पर फिल्मों का निर्माण जितनी सफलतापूर्वक गैर पेशेवर कलाकारों द्वारा निष्ठापूर्वक होना संभव है, उतना व्यावसायिक सिनेमा की सरहदों में घिरकर नहीं। 116 मिनट कालावधि की 'तिरिया चरित्र' बासु चटर्जी जैसे सक्षम फिल्मकार के निर्देशन, नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, राजेश्वरी जैसे बड़े कलाकारों और सलिल चौधरी जैसे बेजोड़ संगीत निर्देशक तथा साहित्यिक गीतों के लिए विख्यात गीतकार योगेश के सम्मिलन के बावजूद 'कथा कसाईबाड़ा' के समतुल्य प्रभाव भी उत्पन्न नहीं कर पाती। इसका बजट भी स्वाभाविक रूप से 'कथा कसाईबाड़ा' से बीस-पच्चीस गुना था।

सबसे पहले बात 'कथा कसाईबाड़ा' की, इसलिए कि यह गैर फिल्मी लोगों द्वारा किया गया एक हद तक सफल प्रयास माना जाएगा। इससे जुड़े किसी भी व्यक्ति का फिल्म से रिश्ता पैसे का नहीं है, ज्यादा या कम जैसा भी है, पैशन का

रिश्ता है। इस फिल्म के निर्देशक श्री सुशील कुमार सिंह ने बतलाया कि सभी कलाकारों ने सभी प्रमुख चरित्र दूरदर्शन के नियमित मानदेय पर निभाए। गोया कि फिल्म लगभग मजदूरी के स्तर पर दिए गए पारिश्रमिक के द्वारा बनाई गई। सुशील कुमार सिंह ने खुले मन से यह स्वीकार किया कि उनके लिए यह फिल्मांकन दूरदर्शन के नियमित कामकाज की तरह था। इसके साथ किसी किस्म की कोई खासियत जुड़ी हुई नहीं थी।

शनीचरी की भूमिका में वेदा राकेश केंद्रीय चरित्र की पीड़ा को, उसके विद्रोह के प्रतिफलन की झूठी जिजीविषा को चरित्र की निरीहता और निरीहता में अन्याय को, श्रापित करने के दुस्साहस को यथासंभव हू-ब-हू उतारने में बखूबी पार उतर जाती हैं। प्रधान की भूमिका में सैयद मेंहदी और उनकी पत्नी बनी अर्चना सतीश उपयुक्त हैं। अधरंगी में मनोज



कसाईबाड़ा' पर बात पहले करनी चाहिए। जब सिनेमाई बिंबों के सर्वथा अभाव में भी सामने आने वाला परिणाम उत्साहवर्धक है तो संपूर्ण समर्पण के साथ बनाई गई फिल्म निश्चित ही यादगार बनने की कूवत रखती है।

शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्तर', 'अकालदंड' और 'कथा कसाईबाड़ा' में सिनेमाई अभिव्यक्ति की ऐसी विराट संभावनाएं हैं कि वे इक्कीसवीं सदी की 'मदर इंडिया' और 'बंदिनी' गढ़ सकती हैं, यदि किसी सक्षम निर्देशक की विराट सहानुभूति का स्पर्श उन्हें मिल सके। यह अवसर तो 'कथा कसाईबाड़ा' के चार वर्ष पहले ही 1994 में उपस्थित हो गया था, जब बासु चटर्जी ने 'तिरिया चरित्तर' पर फिल्म बनाई थी। पर इसके बारे में इतना ही कहा जाना बेहतर है कि यह दूरदर्शन के निहायत निपटाऊ कामकाज से बढ़कर पिटाऊ ढंग से निपटाई गई। कोई आश्चर्य नहीं कि इसके प्रदर्शन के बाद खुद कथाकार शिवमूर्ति ने इसकी कटु आलोचना की थी। ओम पुरी और नसीरुद्दीन शाह जैसी सितारा शख्सियतों का कोई लाभ नहीं मिल सका। नसीर तो बिसराम के चरित्र को समझे ही नहीं और ओम पुरी नायिका पर आसक्त नौजवान ट्रक ड्रायवर के किरदार में फबे नहीं। इनके कास्च्यूम भी माशा अल्लाह डिजाइन किए गए थे। इस तरह कि बेचारी 'कसाईबाड़ा' की नाटकीयता तक शर्मिंदा हुई। कथा का निहायत नाटकीय (अतिनाटकीय नहीं) निष्पादन अंत में आक्रोश की जगह ऊब पैदा करता है। दर्शक छले जाने की ग्रंथि से व्यथित होता



है। इस समूचे उपक्रम की एकमात्र उपलब्धि है बिमली की भूमिका में राजेश्वरी, जिनकी प्रतिभा को कोई अवलंब नहीं मिल सका। बिमली की अन्याय से जूझने की आग जिस तरह राजेश्वरी ने कथा के तीन अहम मोड़ों पर प्रज्वलित होकर जी है, उसका कोई मार्मिक दृश्य विधान निर्देशक नहीं रख सका। कहानी में 'तिरिया चरित्तर' का अंतिम दृश्य हमारे अपने भीतर सवाल पैदा करता है—सोचो, तुम खुद आदमी हो कि नहीं? यह तीव्र उत्ताप फिल्म पैदा नहीं करती। बिसराम विजयी नहीं हुआ, यह तो वही जानता है कि वह किस बुरी तरह हारा है। शिवमूर्ति बिलकुल अंत में लिखते हैं—'दागने का मन इकदम नहीं है बिसराम का, लेकिन करम का भोग तो भोगना ही पड़ेगा।' न नसीर बिसराम की वेदना तक पहुंचे और न बासु चटर्जी ने कोई भावोद्रेकपूर्ण चरमोत्कर्ष दिया, जिस हुनर में वे माहिर माने जाते हैं। 1994

तक नसीर पूरी तरह व्यावसायिक सिनेमा के परिदृश्य में लीन हो चुके थे और स्वयं कह रहे थे कि कला सिनेमा के गलियारों में अधिकतर उनका अन्यायपूर्ण शोषण ही हुआ। नसीर की जगह पंकज कपूर बिसराम की भूमिका में अधिक बेहतर होते। सिर्फ नसीर ही नहीं, बिल्लर की भूमिका में गगन गुप्ता, बिमली की मां बनी राधा असरानी भी कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाते। भट्टा मालिक खान साहब की भूमिका में दीपक काजिर, कुइसा मिस्त्री बने विजय कश्यप, बिमली के बाप की भूमिका में इंद्रजीत सचदेव अपना काम यथासंभव ठीकठाक कर जाते हैं। सभी सहायक पात्रों के बीच मंतोरिया की भूमिका में मानसी उपाध्याय ही एक ऐसी हैं जो अपने पात्र को जीवंत कर देती हैं।

बासु चटर्जी ने चालीस से अधिक फिल्में बनाई हैं लेकिन आरंभिक 'सारा आकाश', 'पिया का घर', 'रजनीगंधा', 'छोटी सी बात' और 'स्वामी' के बाद के 1980 से 2010 के दरमियानी तीन दशकों में इक्का-दुक्का छोड़कर बाकी तीस-पैंतीस फिल्में इसी तरह बनाई, जिनका कोई खास नोटिस नहीं लिया गया। जब उन्होंने 'तिरिया चरित्तर' के सृजन में हाथ डाला, दरअसल तब तक वे अपना सर्वश्रेष्ठ दे चुके थे और अपने समय के मध्यवर्गीय चेतना के पारिवारिक सिनेमा को, जिसके वे विशेषज्ञ माने जाते थे, अप्रासंगिक होता देखकर टेलीविजन की ओर मुड़ चुके थे, जहां काम करने और उससे अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की प्रचुर संभावनाएं थीं। इसीलिए कथा की भावनात्मक गहराई में उतरकर





उसके विराट सामाजिक परिप्रेक्ष्य की पड़ताल कर सिनेमाई शिखर तक पहुंचा पाना उनके लिए संभव नहीं था।

शिवमूर्ति को इससे निराशा हुई तो इसलिए कि इसके फिल्मांकन से उनका पैशन जुड़ा हुआ था। इसे महत्वाकांक्षा कहना उचित नहीं होगा। हमें नहीं पता लेकिन सोचता हूं कि शिवमूर्ति से बढ़कर

सिनेमा के किसी भी महामहिम संगीतकार से उन्नीस नहीं। उन्होंने हिंदी सिनेमा को ऐसे यादगार गीत दिए हैं जो आधी शताब्दी से भी अधिक समय गुजर जाने के बाद भी वर्तमान को झंकृत करते हैं। 'दो बीघा जमीन', 'जागते रहो', 'मधुमती', सारा आकाश', 'आनंद', 'रजनीगंधा' के गीतों को कौन भुला

**समकालीन हिंदी साहित्य और सिनेमा के बीच मधुर रिश्तेदारी सिनेमा की शुरुआत से लेकर आज तक नहीं बन सकी। प्रेमचंद से लेकर शिवमूर्ति तक यह सिलसिला अविराम जारी है। पर तब भी लेखक की यह सहज इच्छा होती है कि उसकी कृति का मंचन हो और जो फिल्म बने तो सोने में सुहागा ही समझिए। सिनेमा की कटु आलोचना करने वाले लेखकों की भी अपनी कृतियों के फिल्मांकन की आकांक्षा होती है।**

निराशा राजेश्वरी को हुई होगी, जिसने तब ठीक इसके पहले 1992 में श्याम बेनेगल की 'सूरज का सातवां घोड़ा' से अपनी पहचान बनाई थी। एक ऐसी अदाकारा जो दो दशकों से सिनेमा और दूरदर्शन के हर फॉर्मेट में अपनी बहुआयामी प्रतिभा का परिचय देती आई है, जो सामर्थ्य शीर्ष-संधान तक न पहुंच सकी। शायद इसी को इस मायालोक में किस्मत का खेल कहा जाता है जो दर हकीकत होता, रोजगारी तालमेल के शतरंज का जटिल खेल है।

फिल्म में जो बलवती आशा सबसे बड़ी निराशा में प्रतिफलित होती है वह है सलिल चौधरी का संगीत-सृजन। उनका नाम देखकर 'तीसरी कसम' की तरह मन को शीतल कर देने वाले गीत-संगीत की उम्मीद बंधना स्वाभाविक है। वे हिंदी

सकता है। पार्श्व संगीत के तो वे मास्टर माने जाते थे। गीतविहीन 'कानून' और 'इत्तफाक' और मलयालम की अद्वितीय फिल्म 'चेम्मीन' में उनका पार्श्व संगीत बाकमाल है। पर 'तिरिया चरित्तर' में गीतों और पार्श्व संगीत दोनों ही स्तरों पर कुछ भी साधारण स्तर तक का नहीं बन सका। दूरदर्शन और राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के सहयोग से बनाई गई यह फिल्म भी महज एक सरकारी उपक्रम ही बनकर रह गई।

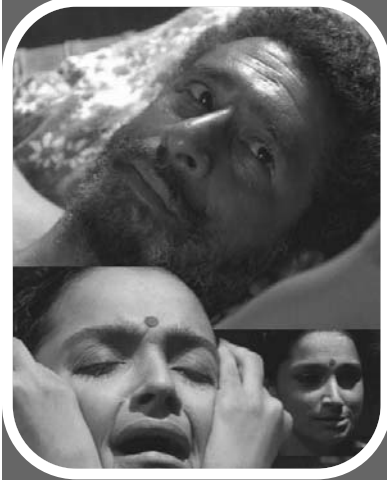
सत्यजीत राय से लेकर आज तक हर समर्थ निर्देशक का यही मंतव्य रहा है कि सरकारी पैसे से सार्थक काम कर पाना, रेत में से तेल निकाल लेने से कम नहीं है। इसीलिए फिल्मकारों ने खुद निर्माता होने की जिम्मेदारी ओढ़ी या अपने लिए उपयुक्त निर्माताओं की तलाश की।

सत्यजीत राय की 'चारुलता' सहित अनेक फिल्मों के निर्माता आर. डी. बंसल थे। बंसल अपने समय के बड़े निर्माता और व्यवसायी थे।

सिनेमा को पूंजी से अलग करके नहीं देखा जा सकता। लेकिन इसे पूंजी का खेल-तमाशा बनने से बचाकर ही सार्थक सृजन किया जा सकता है। यही हर दृष्टिसंपन्न फिल्मकार की कोशिश रही है और हो सकती है।

समकालीन हिंदी साहित्य और सिनेमा के बीच मधुर रिश्तेदारी सिनेमा की शुरुआत से लेकर आज तक नहीं बन सकी। प्रेमचंद से लेकर शिवमूर्ति तक यह सिलसिला अविराम जारी है। पर तब भी लेखक की यह सहज इच्छा होती है कि उसकी कृति का मंचन हो और जो फिल्म बने तो सोने में सुहागा ही समझिए। सिनेमा की कटु आलोचना करने वाले लेखकों की भी अपनी कृतियों के फिल्मांकन की आकांक्षा होती है। यदि किसी लेखक की कृति पर कोई अपरिचित-सी फिल्म का भी निर्माण हो जाता है तो उसका उल्लेख उसके परिचय में उपलब्धि बतौर किया जाता हुआ देखा जा सकता है।

दृश्य-श्रव्य माध्यम किसी कृति को आखिरी आदमी तक संप्रेषित करने की क्षमता रखते हैं, जहां तक लिखित शब्द की सीधी पहुंच नहीं। तुलसी की सार्वजनीन लोकप्रियता का बड़ा कारण रामलीलाएं और राम-कथावाचन की परंपराएं हैं जिन्होंने लाखों जनों को राम-कथा से जोड़ा। तुलसी ने स्वयं इनकी शुरुआत की थी। लेखकों की दृश्य-श्रव्य माध्यम से जुड़ने की आकांक्षा न ही नई है और न अनुचित। पर खास तौर से हिंदी में इस दिशा में सृजनात्मक प्रयास बहुत कम हुए। आलोचनात्मक बबूले ज्यादा खड़े हुए। कवि-सम्मेलनों की उपयोगिता और सामर्थ्य को जानते-पहचानते हुए भी पिछली आधी शताब्दी से लगातार हिकारत की नजर से देखने की प्रवृत्ति ने उन्हें आज पूरी तरह विदूषकों की मंडली के हवाले कर दिया है—वे कवि-सम्मेलन जो जन-जागरण की भूमिका निभाते थे। हिंदी सिनेमा का हाल भी वही है।



फलक दे सके। वह सिर्फ आर्थिक उपलब्धियों के लिए समर्पित न हो, फिल्म व्यवसाय की भी गहरी समझ रखता हो। इसीलिए यह काम दुधारी तलवार पर चलने की तरह होता है। 'तिरिया चरित्र' का प्रदर्शन भी सही ढंग से संभव नहीं हो सका था और यह कब आई और चली गई, इसके संभावित दर्शकों को पता ही नहीं चला। यहां तक कि 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन सिनेमा' में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है और न ही बासु चटर्जी की फिल्मोग्राफी में ही। सातवें दशक में जबरदस्त रूप से उभरकर सामने आया समानांतर सिनेमा इसी

सातवें दशक में जबरदस्त रूप से उभरकर सामने आया समानांतर सिनेमा इसी व्यावसायिक नासमझी के कारण अकाल काल-कवलित हुआ। इसने अपने लिए सिनेमाघरों का कोई नया तंत्र खड़ा नहीं किया और व्यावसायिक सिनेमा के बीच अपनी जगह खोजने में भी वह नितांत असफल हुआ। इसीलिए इससे उभरकर आने वाली अनेकानेक अप्रतिम प्रतिभाएं या तो खो गईं या तो सिनेमा की मूल धारा में ही अपनी जगह तलाशने को मजबूर हुईं।

फिल्म निर्माण और लेखन दो नितांत भिन्न रचना-प्रक्रियाएं हैं। लेखन व्यक्तिगत रचनाकर्म है जिसमें धन की भूमिका नगण्य है। फिल्म निर्माण सामूहिक रचनाकर्म है, जिसमें सृजन हेतु अपार धनराशि आवश्यक है, इसलिए उसका व्यावसायिक कला बनना लाजिमी है। इसमें अभिनेताओं, गायकों, वादकों सहित छायाकार, कला-निर्देशक, संपादक, वेशभूषा संयोजक, मेकअप आर्टिस्ट आदि अनेकानेक कलात्मक विधाओं में पारंगत व्यक्तियों का योगदान होता है। इस समूची मंडली की बागडोर निर्देशक के हाथ में होती है। वही 'कैप्टन ऑफ द शिप' है। कथाकार यहां उसका सहयोगी ही बन सकता है। संपूर्ण फिल्म का समायोजन निर्देशकीय दृष्टि के अनुरूप ही होता है। वही सिनेमा का प्रथम पुरुष है। कथाकार तब ही सर्वोपरि हो सकता है जब वह स्वयं निर्देशक भी हो।

इसलिए साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन के लिए सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे निर्देशक के हाथ में बागडोर हो जिसका साहित्य से परिचय हो और वह कृति में डूबकर उसे विराट

व्यावसायिक नासमझी के कारण अकाल काल-कवलित हुआ। इसने अपने लिए सिनेमाघरों का कोई नया तंत्र खड़ा नहीं किया और व्यावसायिक सिनेमा के बीच अपनी जगह खोजने में भी वह नितांत असफल हुआ। इसीलिए इससे उभरकर आने वाली अनेकानेक अप्रतिम प्रतिभाएं या तो खो गईं या तो सिनेमा की मूल धारा में ही अपनी जगह तलाशने को मजबूर हुईं।

इक्कीसवीं सदी में मल्टीप्लैक्स संस्कृति ने सिनेमाई व्यापार को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया है और सिनेमा की कमाई सिर्फ व्यावसायिक प्रदर्शनों तक सीमित नहीं रह गई है। आज फिल्में बीसों तरह से कमाती हैं। प्रदर्शन और संगीत बिक्री से ही नहीं, सैटेलाइट्स और डीवीडी राइट्स, टेलीविजन प्रदर्शन, मोबाइल रिंगटोन, ब्राण्ड इंडोर्समेंट जैसे अनेक चोचले कमाई के साधन हैं। आज दो से पांच करोड़ लागत की अनेक ऐसी फिल्में बन रही हैं जो 90 से 120 मिनट की समयावधि की होती हैं और प्रदर्शन के पहले तीन दिनों में ही फायदे का सौदा बन जाती हैं।

### तिरिया चरित्र

जब बिसराम विमली को अचेत हालत में बर्बाद कर चला जाता है और वह होश में आती है तो अपनी देह, आत्मा और आत्मविश्वास को कुचला हुआ पाती है—“अपनी आन-बान से जीने वाली 'मादा' यहां 'मिट्टी' कर दी गई जबरन।” विमली के संदर्भ में 'मादा' और 'मिट्टी' शब्द का इस्तेमाल किया गया है—जो उर्वरता के प्रतीक हैं। मगर यहां इन शब्दों से एक डरावनी लोकध्वनि निकलती है जो हमारे सामने खूंखार संसार की छवि रचती है। कहां है कहानी के पुराने 'लोक' में यह खूंखार संसार? इसी संसार को प्रकाशित करने के लिए कहानीकार अपनी विरासत को पीछे छोड़ता है। यह 'तिरिया चरित्र' का संसार है जिसका मूलमंत्र है—“तिरिया चरित्रम पुरुषस्य भाग्यम...।” पुरुषसत्ता की एक युक्ति जिसके चलते वह अपनी नाकामियों और कमजोरियों को स्त्री चरित्र के मध्ये मढ़ देती है। विमली के माथे पर जो कलंक-टीका बिसराम दागता है, वह पुरुष-वर्चस्व की कालिख है।

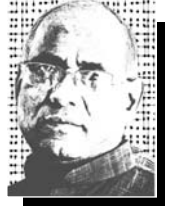
—प्रियम अंकित

(नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008 से साभार)

इसलिए आज शिवमूर्ति जैसे कथाकारों की कृतियों पर नए कलाकारों के साथ दृष्टिसंपन्न निर्देशक न केवल सार्थक अपितु लाभदायक फिल्मों को भी अंजाम दे सकते हैं। जाहिर है इसके लिए कलात्मक कौशल के साथ व्यावसायिक चातुर्य भी अपरिहार्य है।

यदि हम सचमुच साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन के आकांक्षी हैं तो महज आलोचनात्मक दृष्टि से सिनेमा को देखने की जगह समझदारी से इस दिशा में रचनात्मक प्रयासों की आवश्यकता है। आज भी अपनी तरह का एक नया सिनेमा सामने आ रहा है। पिछले एक दशक में 'फिराक', 'भेजा फ्राई', 'मकबूल', 'खोसला का घोंसला', 'बीइंग सायरस', 'मिस्टर एंड मिसेज अय्यर' जैसी निहायत छोटी लागत से बनाई गई पचासों फिल्मों ने नया इतिहास रचा है।

□



## कथा कसाईबाड़ा : सफर छोटे पर्दे का



### सुशील कुमार सिंह

‘सिंहासन खाली है’ जैसे ख्याति प्राप्त नाटक के लेखक और ‘बीबी नातियों वाली’ जैसे मील के पत्थर धारावाहिक के निर्माता-निर्देशक।

विश्वविद्यालय से बी. एस-सी., राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली से नाट्य-निर्देशक तथा भारतीय फिल्म एवं टी. वी. संस्थान, पुणे से फिल्म एवं टेलीविजन कार्यक्रम निर्माण-निर्देशन का विशेष प्रशिक्षण।

उ. प्र. संगीत नाटक अकादमी द्वारा 1991 में पुरस्कृत। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा अनेक नाटकों को पुरस्कार। उ. प्र. के प्रसिद्ध नाट्य-प्रशिक्षण संस्थान भारतेंदु नाट्य अकादमी, लखनऊ में पांच वर्षों तक निदेशक के पद पर कार्य।

संपर्क : ई-45, महानगर विस्तार,  
लखनऊ-226006  
मो. : 9839025538

लाइट्स...साउंड...कैमरा...एक्शन...

“काकी...वो विवाह नहीं धोखा था...परधान कसाई है...उसने हम सबको बेच दिया...हमे पेशा करना पड़ता है...तुम्हारी रूपमतिया को भी...।”

शनीचरी काकी का चेहरा सन्न है।

लालटेन की मद्धिम रोशनी में बदहवास सुगना कहे जा रही है, वो दूल्हे नहीं थे...शहर के छंटे हुए गुंडे थे।...बहुत अत्याचार होता है हम पर...जो मना करता है, बहुत मार पड़ती है...यह देखो...

सुगना अपनी पीठ उधाड़ देती है...पीठ पर पड़े निशान चमक उठते हैं...

“आज मौका लगा तो भाग निकले...गुंडे पीछे पड़े हैं...”

गांव के किनारे बनी एक झोंपड़ी के अंदर शिवमूर्ति की कहानी ‘कसाईबाड़ा’ की शूटिंग चल रही थी...काफी रात हो गई थी। गांव अंधेरे में डूबा था। इक्का-दुक्का जगह पर एक-दो बल्बों की पीली रोशनी थी या फिर शूटिंग स्थल। इसी झोंपड़ी के अंदर तीन-चार लाइट स्टैंडों पर मल्टी-20, मल्टी-10 जैसे काले-काले लाइट उपकरणों के लेंस से हल्की नीली और पीली रोशनी जो रात का प्रभाव और लालटेन के ‘सोर्स ऑफ लाइट’ के अनुसार अभिनय स्थल पर शनीचरी काकी और धौंकनी-सी हांफती ग्रामीण बाला सुगना के दृश्य को कैमरे में कैद करने में यथार्थवादी प्रकाश योजना को साकार कर रही थी। कलाकार अभिनय में तल्लीन थे और कैमरामैन, साउंड रिकॉर्डिस्ट, लाइटिंग असिस्टेंट्स आदि तकनीकी समूह एकाग्रचित्त होकर अपने-अपने काम में व्यस्त थे। तमाशबीन काफी हद तक जा चुके थे, फिर भी काफी लोग झोंपड़ी के बाहर आस-पास के घरों की छतों, पेड़ों, खंभों पर चढ़े शूटिंग देख रहे थे। अन्य कलाकार भी जहां-तहां बिखरे सिगरेट फूंक रहे थे। तभी गांव के किसी कोने से तेज चीख-पुकार, रोने-धोने, दौड़ने-भागने, भद-भद की आवाजें और कुछ अजीब तरह का शोर उभरा। मैं झोंपड़ी के अंदर आंगन में था। आंगन से लगी दीवार थी। किसी प्रकार दीवार के उस पार झांककर देखने की कोशिश की, उधर जहां से आवाजें आ रही थीं...मुझे लगा शायद कोई घरेलू झगड़ा-फसाद हो गया। गांव के लगभग दूसरे छोर पर अंधेरे में क्या हो रहा है, ठीक से कुछ समझ में नहीं आया... तभी एक युवक विनोद मिश्रा जो वैसे तो लखनऊ में पेशे से वकालत करते हैं किंतु इसी गांव के थे और उन्होंने ही शूटिंग के लिए यह गांव सुझाया था तथा शूटिंग के लिए हर संभव सुविधा की व्यवस्था की थी, दबे पांव मेरे पास आए और धीरे से बोले, “भाई साहब, डकैती पड़ रही है।”

मैं चौंक गया...मुझे यह उम्मीद नहीं थी। अच्छा-भला गांव था...कई संपन्न घर थे। आबादी भी ठीक थी। मैंने पूछा, “गांव के लोग कुछ कर क्यों नहीं रहे?” उन्होंने कहा, “डकैतों के पास बंदूकें हैं।” मैंने कहा, “गांव में भी तो कुछ लोगों के पास होंगी?”

उन्होंने कहा, “तीन-चार होंगी पर कोई सामने नहीं आएगा भाई साहब।”

मैं सोच में पड़ गया...कैसे गांव वाले हैं? मैंने फिर पूछा, “कितने डकैत होंगे?” “दस-बारह तो होंगे ही।”

“हमारी यूनिट में कितने लोग होंगे?”

“40-45 तो होंगे।”

“तो फिर खामोशी से सबको जल्दी से इकट्ठा करो और लाठी-डंडे, लोहे की रॉड (लाइट उपकरणों के साथ लोहे की बहुत-सी रॉड जो लाइट स्टैंड्स के एक भाग के तौर पर काम आती थीं), जिसके जो हाथ में आए ले लो और चारों ओर से उन पर हल्ला बोल दो...मैं भी चलूंगा।”

“अरे भाई साहब, आप समझ नहीं रहे हैं, ये ठीक नहीं होगा...।” वह अजीब सी मायूसी से बोले।

मुझे उनकी बात समझ में नहीं आई...बस थोड़ी-सी हिम्मत की बात थी। शायद डकैत भाग जाते। खैर, मैंने कहा, “अगर कुछ नहीं करना है तो ये लाइट्स (शूटिंग लाइट्स) बुझा दो और सब खामोशी से बैठ जाओ।”

सीन अभी तक शूट हो रहा था। बंद कर दिया गया। लाइट्स ऑफ हो गईं।

कुछ अंतराल के बाद वही सज्जन फिर आए। बोले, “भाई साहब, गांव के कोने में साहू का मकान है, वहीं डकैती पड़ी थी। लड़के को गोली लगी है। मर गया है। कई लोग घायल हो गए हैं।

मैं क्या कहता? शूटिंग तो पहले ही बंद हो गई थी।

यूनिट में दस-बारह महिला कलाकार थीं। उन्हें उनके विश्रामस्थल पर छोड़वाकर मैं भी अपने ठहरने की जगह पर आ गया। टीम के बाकी सदस्य भी सोने चले गए।

मुझे नींद नहीं आई रात-भर। यह कैसा ‘कसाईबाड़ा’ है जिसके निर्माण में पता नहीं क्या-क्या देखना पड़ेगा। कितनी मुश्किल से तो शूटिंग शुरू हो पाई थी। अभी दो-तीन दिन भी नहीं हुए थे और यह घटना...

सुबह सभी कलाकारों को लेकर मैं साहू के घर की ओर चल पड़ा। हम सभी का मन भारी था। गांव के घरों-गलियों में सन्नाटा पसरा था। घर के चारों ओर भीड़ जमा थी, गली के दोनों ओर, दरवाजों पर, खिड़कियों पर, छत पर...बरामदे में लेकिन तमाशबीन! बर्फ की सिल्ली पर उस नवयुवक का शव पड़ा था। उसके परिजन विलाप कर रहे थे। गांव-गली की कुछ महिलाओं की आंखों में भी आंसू थे।

मैंने उस बहादुर नौजवान के चरणों में पुष्प अर्पित किए। उसने डाकुओं से भिड़ने की हिम्मत की थी और मारा गया...। साथी कलाकारों ने भी नम आंखों से पुष्प अर्पित किए। फिर हम सभी लौट गए। गांव वालों को शायद इस मौत का ही डर था, इसीलिए सब अपने-अपने घरों में दुबके रहे और उनका एक पड़ोसी लुटता रहा। अपना बेशकीमती हीरा भी गंवा बैठा।...मैं सोच रहा था ऐसी जिंदगी का भी क्या फायदा जो अपने घर, गांव, पड़ोसी पर आई विपदा पर हुंकार न उठे।

गांव में फिलहाल शूटिंग का कोई माहौल न था। जांच के लिए आए पास के थानेदार ने बताया कि गांव के लोग हम लोगों को ही शक की नजर से देख रहे थे। उनका कहना था, शूटिंग वाले दिन-भर शूटिंग के बहाने घर में घुसकर टोह लेते हैं और रात में इन्हीं लोगों ने डकैती डलवा दी। मैं गांव वालों के इस विलक्षण आरोप से सन्न-सा रह गया। शिवमूर्ति की कहानी में ग्रामीणों की सहज चतुराई की झलक खूब देखी थी। अब यह साक्षात् देख रहा था।

खैर, थानेदार ने मुझे आश्वस्त किया—चिंता की कोई बात नहीं है। हम लोगों पर उसे कोई शक नहीं है। टीम शूटिंग ‘पैकअप’ कर वापस लौट आई थी।

शिवमूर्ति की कहानी ‘कसाईबाड़ा’ पर फिल्म बनाने का विचार कैसे आया...और फिल्म बनकर तैयार होने में किन-किन विकट बाधाओं का सामना करना पड़ा...थोड़ा ‘फ्लैश बैक’ में चलते हैं।

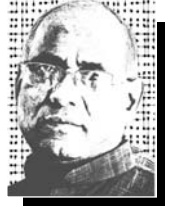
तब ‘धर्मयुग’ जिंदा था और मैं जयपुर में था। दूरदर्शन में प्रोड्यूसर के पद पर ‘ज्वाइन’ किया था 30 जून, 1978 को। करीब डेढ़-दो साल वहां रहा। उसी दौरान ‘धर्मयुग’ का वह अंक आया जिसमें ‘कसाईबाड़ा’ छपी थी। ग्रामीण पृष्ठभूमि पर शोषण के नए अंदाज... अलग तौर-तरीके। प्रेमचन्द के गांव या ‘मदर इंडिया’ के गांव से अलग लगे। बदलते दौर में शोषण के नए तेवर। जमींदारी और जमींदार भले ही खत्म हो गए हों, पर उनका स्थान ले लिया है नए

शोषकों...ग्राम-प्रधान, लीडर, दरोगा, थानेदार आदि ने। लोकतंत्र में यह बदला हुआ स्वरूप अद्भुत लगा। प्रधान जी ने अच्छा दांव खेला था। गांव की गरीब लड़कियों की शादी करा दी शहर के पढ़े-लिखे ‘स्मार्ट’ दूल्हों से, वह भी बिना दान-दहेज के। खूब धूम-धाम से हुआ सामूहिक विवाह...सभी रस्म-रिवाजों के साथ। नम आंखों से विदाई और धूल उड़ाती बैलगाड़ियों के गर्दो-गुब्बार में छुईमुई-सी भोली-भाली गांव की गरीब लड़कियां अपने-अपने जीवनसाथी के साथ ओझल हो गईं...भविष्य के सपने बुनने के लिए। चारों तरफ वाह-वाह हो गई और प्रधान जी फिर प्रधान बन गए तीसरी बार। लीडर जी मन मसोसकर रह गए। गांव में लीडर जी भी थे जो वैसे तो स्कूल मास्टर थे पर स्कूल की मास्टरी उन्हें गर्दन का मैल जैसी लगती थी। इसमें भला क्या कैरियर?...उन्हें तो तरक्की का एक ही चैनल दिखाई देता। पहले ग्राम-प्रधान, फिर ब्लाक-प्रमुख, फिर विधायक, फिर मंत्री-मिनिस्टर।

भला हो सुगना का जिसने परधान की काली करतूत का भांडा फोड़ दिया और लीडर जी को मौका मिल गया अपनी लीडरी चमकाने का। फौरन बैठा दिया शनीचरी काकी को आमरण अनशन पर परधान जी के दरवाजे पर। एक शनीचरी काकी ने ही माना था कि उनकी बेटी विवाह के नाम पर बेच दी गई है। सुगना उसी के पास तो गुंडों से बचते-बचाते आई थी और जैसे आई थी वैसे चली गई। किसी को पता ही न चला कि शनीचरी की झोंपड़ी से बाहर निकलते ही गुंडे उसे दबोच ले गए थे। इसलिए वे तमाम लोग जिनकी बेटियों का सामूहिक विवाह हुआ था, जाहिर तौर पर मानने को ही तैयार नहीं थे कि उनकी बेटियों को बेच दिया गया है।

अंदर से तो हिल गए थे सब किंतु ये स्वीकार करने पर कि उनकी बेटियां बेच दी गई हैं और धंधे में बैठी हैं तो उनका तो हुक्का-पानी ही बंद हो जाएगा, जाति-बिरादरी से बाहर हो जाएंगे, इसलिए सभी चुप थे। गांव में एक युवक अधरंगी भी था जिसके आगे-पीछे कोई नहीं था। आधे शरीर में लकवा लगा था।





बैसाखी के सहारे चलता था। कुछ करने-धरने में लाचार था किंतु मन में आक्रोश भरा था। उसे प्रधान और लीडर दोनों में कोई फर्क नजर नहीं आता—एक नागनाथ और दूसरा सांपनाथ...खुले मुंह खरी-खरी सुनाता, किसी को नहीं छोड़ता।

इस ग्रामीण तंत्र में एक थाना और दरोगा जी भी थे...जिनसे न्याय की उम्मीद करना ही भद्दा मजाक है।

शनीचरी रात-रात-भर विलाप करती है—अपनी बेटी के लिए, प्रधान के दरवाजे पर। प्रधान की पत्नी सीधी-सरल है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि उसका पति ऐसा नीच कर्म भी कर सकता है। शनीचरी की आहें...हूकें...गालियां उसे बेचैन कर देती हैं। उसे अजीब-अजीब सपने आते हैं, जैसे उसकी हवेली को आग लगा दी गई है और उसके पति को...उसके चार-पांच साल के प्यारे बेटे को भीड़ आग में झोंक देती है।

प्रधानिन भयभीत हो अपने पति की मान-मनखुल कर उसे राजी करती हैं, शनीचरी का अनशन तुड़वाने के लिए। आधी रात को दोनों पति-पत्नी दरवाजे के सामने पेड़ के नीचे बैठी शनीचरी को आग्रहपूर्वक दूध पिलाकर अनशन तुड़वाते हैं। प्रधान वादा करता है कि वह जल्दी ही उसकी बेटी भी उसे सौंप देगा।

सुबह की कहानी कुछ और ही है। शनीचरी मरी पड़ी है। मुंह से झाग निकल रहा है। शरीर पर मक्खियां भिनक रही हैं। लोगों की भीड़ चारों तरफ जमा है। दाह-संस्कार कौन करे? गांव वालों ने तय कर रखा है कि हाथ नहीं लगाएंगे लाश को। कौन पड़े थाना-कचेहरी के चक्कर मा। परधान मन ही मन सोच रहे हैं, कल को कोई बात हुई तो पत्नी के ही मत्थे मढ़ दूंगा, “दूध तो साली तुम्हीं ने पिलाया था।” उधर लीडर जी ऊपर तक बात पहुंचाने का आश्वासन देते-देते, रात के अंधेरों में कोरे कागजों पर शनीचरी के अंगूठे लगवाते-लगवाते उसकी जमीन ही अपने नाम करा लेते हैं। मुदित-मन लीडर जी जब रजिस्ट्री के कागजात अपनी पत्नी के हाथों में सौंपते हैं तो वह बेचारी फफक उठती है। पति की ऐसी हरकतों की वजह से ही उसकी कोख नहीं भरी। कैसा गांव है जहां अपनी ही बहू-बेटियों

को बेच दिया जाता है।

यह गांव है या कसाईबाड़ा? अधरंगी को कुछ नहीं सूझता तो अकेले ही शनीचरी को एक चारापाई पर लादकर खींचता-घसीटता उसी की झोंपड़ी में डालकर आग लगा देता है। गांव वालों ने कुछ नहीं किया तो उसी ने दाह-संस्कार कर दिया।

कुल मिलाकर ग्रामीण पृष्ठभूमि पर शिवमूर्ति की कहानी ‘पॉवरफुल’ थी। चरित्र दमदार। कहानी पढ़ते-पढ़ते मन के ‘स्क्रीन’ पर ‘विजुअलाइज’ होने लगी थी। पूरी पढ़ने के साथ ही मैंने तय कर लिया था कि इस पर फिल्म बनानी है। ‘धर्मयुग’ में रचना के साथ लेखक का पता नहीं छपता था। इसलिए संपादक को लिखा। कुछ दिनों बाद शिवमूर्ति जी का अनुमति-पत्र मिल गया। अनुमति-पत्र तो मिल गया लेकिन फिल्म बनने की राह इतनी आसान नहीं थी।

दूरदर्शन का जयपुर केंद्र तब मात्र एक ‘रिले सेंटर’ था। यहां प्रोग्राम नहीं बनते थे। स्टूडियो आदि भी नहीं थे। फिर शिवमूर्ति की कहानी यू. पी. के किसी गांव पर केंद्रित थी। यह माहौल राजस्थान में मिलना मुश्किल था। इसलिए मैं अपना ट्रांसफर दूरदर्शन के लखनऊ केंद्र में कराने के लिए प्रयासरत हुआ। कुछ अंतराल के बाद मैं लखनऊ आ भी गया। मुझे नाटक विभाग सौंपा गया। मैं दूरदर्शन पर ‘कसाईबाड़ा’ बनाने की स्थिति में आ गया था। यद्यपि मुझे इस कहानी में एक फीचर फिल्म का स्कोप नजर आता था। मैंने सोचा, दूरदर्शन पर तो कभी भी बना लूंगा। यदि फीचर फिल्म का प्रोजेक्ट बन जाए तो बात ही कुछ और होगी।

संयोग से एक उत्साही युवक मिल गया जिसके लखनऊ में कई होटल थे। देशी शराब का पुश्तैनी धंधा था। कई जिलों में ठेके थे। वह फिल्म लाइन में कुछ करना चाहता था। मैंने ‘कसाईबाड़ा’ पर फिल्म बनाने का सुझाव दिया। उसे कहानी पसंद आई और बंबई (तब तक उसका नाम मुंबई नहीं पड़ा था) उड़ लिए हवाई जहाज से। अनुपम खेर समेत कई कलाकारों से बात की गई, कई को साइन

किया गया। एक गाना भी रिकॉर्ड कराया गया, संगीत निर्देशिका उषा खन्ना के निर्देशन में। यह एक मुजरा गीत था जो उस ‘सिचुएशन’ पर फिल्माया जाना था जब प्रधान अपनी सामूहिक विवाह-योजना के सफल होने पर जश्न मनाता है। यह गीत प्रतीकात्मक तौर पर ग्रामीण और उनकी भोली-भाली बेटियों के प्रधान के जाल में फंस जाने की ओर इंगित करता था। गीत या मुजरे के बोल थे—

*जुलुम भया दय्या री  
आधी रात को।*

*कोठरिया में संध लगी  
आधी रात को  
लुट गया सारा माल  
आधी रात को।*

*न पूछो नंबरदार जी  
क्या बीती रात को।*

*जुलुम भया दय्या री  
आधी रात को...*

यह गीत पहले लखनऊ में ही रिकॉर्ड कराया गया था। संगीतकार एच. बसंत के निर्देशन में प्रसिद्ध टीवी न्यूज रीडर शोभना जगदीश ने गीत गाया था, किंतु यह गीत मुजरा न होकर मर्सिया जैसा हो गया था और सिचुएशन के अनुकूल रिकॉर्ड नहीं हुआ था। इसका कारण यह था कि एच. बसंत ने बिना मुझ (निर्देशक) से सलाह-मशविरा किए ही गीत की धुन बना ली और रिकॉर्डिंग कर ली। परिणामस्वरूप गीत रिजेक्ट करना पड़ा और बंबई में रिकॉर्ड कराने का निश्चय किया गया। उषा खन्ना ने गीत की धुन बहुत अच्छी बनाई थी और यह मुजरा रिकॉर्ड भी अच्छा हुआ था। उषा खन्ना ने अपनी आवाज दी थी जो बाद में आशा भोंसले की आवाज से ‘रिप्लेस’ होनी थी।

शूटिंग के लिए लखनऊ के आसपास के कई गांवों की खाक छानी गई। कुछ जगहें पसंद भी की गईं। फिल्म बनाने की दिशा में जो प्रयास किए जाने थे, काफी-कुछ किए गए लेकिन फिल्म फ्लोर

तक नहीं पहुंच सकी। प्रोड्यूसर साहब का शौक पूरा हो गया था। बंबई घूम लिए थे। फिल्म कलाकारों से मिल लिए थे। शूटिंग-वूटिंग देख चुके थे। कुछ महिला कलाकारों के साथ उठ-बैठ लिए थे। कुछेक के साथ शायद हमबिस्तर भी हो लिए थे। लिहाजा जो करना चाहते थे, कर चुके थे। फिल्म बनते-बनते ठप्प हो गई।

मैंने सोचा, 'सेल्युलाइड' किस्मत में नहीं है। इलेक्ट्रॉनिक के लिए ही काम किया जाए। दूरदर्शन लखनऊ से 'कसाईबाड़ा' पर टेलीफिल्म बनाने के लिए अनुमोदन प्राप्त किया। लेखक को रॉयल्टी भी भिजवाई। स्थानीय स्तर पर कलाकारों का चयन हुआ। पूर्वाभ्यास शुरू हो गया। लोकेशन, कास्ट्यूम, प्रॉपर्टीज आदि पर कार्य शुरू हो गया। शूटिंग शेड्यूल शुरू होना था, तभी मेरा दूरदर्शन के जालंधर केंद्र के लिए ट्रांसफर ऑर्डर आ गया। ट्रांसफर इसलिए कि मुझसे 'बीवी नातियों वाली' सीरियल दोबारा कलर बनाने के लिए कहा गया था किंतु मैंने मना कर दिया था। मना इसलिए करना पड़ा कि यदि कोई सीरियल दोबारा शुरू होता है तो जिस मोड़ पर पहले खत्म हुआ, उससे आगे जाने की जरूरत होती है, उसी को 'रिपीट' करने की कोई तुक नहीं बनती। के. पी. सक्सेना जो इस 'सीरियल' के लेखक थे, पुराने एपीसोड्स ही रिपीट करके ले आए थे। बहरहाल, 'कसाईबाड़ा' टेलीफिल्म निर्माण का कार्य रुक गया। मैं जालंधर चला गया।

दो साल बाद वापस लखनऊ आया तो मुझे सेंटर प्रोडक्शन सेंटर, नई दिल्ली से 'अटैच' कर दिया गया, जिसका मतलब था मुझे रहना लखनऊ में है पर काम दिल्ली के लिए करना था। इस सबसे जब जान छूटी तो फिर एक बार 'कसाईबाड़ा' पर कार्य शुरू हुआ। फिर से कलाकारों का चयन आदि के पश्चात् पूर्वाभ्यास शुरू हुआ। शूटिंग की तैयारी होने लगी लेकिन इस बार भी काम आगे नहीं बढ़ पाया। मेरा ट्रांसफर एजल, मिजोरम हो गया। मुझे समझ में नहीं आया कि 'कसाईबाड़ा' में ऐसी क्या विचित्र बात थी कि उसे शुरू करते ही कुछ न कुछ हो जाता। सारी तैयारियां हो



टेलीफिल्म 'कसाईबाड़ा' के एक दृश्य में लीडरजी (अशोक सूर) एवं शनीचरी (वेदा राकेश) अन्य ग्रामीणों के साथ।

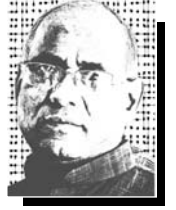
जाने के बाद भी शूटिंग की नौबत ही नहीं आ पाती। इस बीच मैंने दर्जनों टेलीफिल्में कीं, टीवी नाटक किए, सीरियल बनाए, बिना किसी व्यवधान के। पर 'कसाईबाड़ा'? मरता क्या न करता, एजल रवाना हो गया। चार-पांच दिन लगे जाने में, हवाई जहाज, रेल, बस। नॉर्थ ईस्ट में देश के दूसरे भागों से आए लोगों को फॉरनर समझा जाता है। उन्हें अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता। शाम पांच बजे के बाद आप बाहर नहीं निकल सकते। खाने-पीने का ढंग का सामान नहीं मिलता। कब जान पर बन आए, पता नहीं। वहां ज्यादा दिन टिक नहीं पाया। नौकरी छोड़कर घर (लखनऊ) वापस आ गया। फ्रीलांसिंग करने लगा। वैसे एजल में एक बात सबसे अच्छी लगी, वहां गाय और सुअर एक ही कसाई की दुकान पर कटते थे, कोई दंगा-फसाद नहीं।

लगभग डेढ़-दो साल बाद तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण राज्य मंत्री श्री मुख्तार अब्बास नकवी के सदप्रयासों से मेरी पोस्टिंग बरेली हो गई। इस बीच लखनऊ दूरदर्शन में श्री रमाकांत सिन्हा ने निदेशक का पदभार ग्रहण किया। वह मेरे कार्य से परिचित थे और मेरे कार्यों के प्रशंसक भी। उन्हें 'कसाईबाड़ा' याद था। उन्होंने मुझसे लखनऊ आकर यह टेलीफिल्म पूरी करने का आग्रह किया। एक बार फिर कसरत शुरू हुई। मैंने सोचा 'कसाईबाड़ा' में पांच अक्षर हैं। शायद पांच अक्षरों का ये शब्द अंक-ज्योतिष के अनुसार मेरे

लिए अनुकूल नहीं है। मैं इसमें कुछ हेर-फेर करूं तो शायद इस बार गड़बड़ न हो और फिल्म पूरी हो जाय। मैंने ये नोट किया कि मेरे द्वारा लिखे गए नाटकों या निर्मित किए गए सीरियल-टेलीफिल्मों में, जिनके शीर्षक सात अक्षरों के थे, वो काफी लोकप्रिय हुए—'सिंहासन खाली है', 'चार यारों की यार', 'अलख आजादी की', जैसे मेरे पूर्णकालिक नाटक या 'बीवी नातियों वाली' धारावाहिक। मैंने तय किया कि 'कसाईबाड़ा' में दो अक्षर और जोड़ दूं। काफी सोच-विचार के बाद मैंने शीर्षक 'कथा कसाईबाड़ा' से काम शुरू किया। हर लिखा-पढ़ी में इसी का इस्तेमाल किया।

काम शुरू हुआ। जिला बाराबंकी का अल्लापुर गांव मुझे कुछ दृश्यों के लिए उपयुक्त लगा था। शूटिंग का काम शुरू हुआ। एक या दो दिन ही काम हुआ होगा कि मेरे पास लखनऊ केंद्र के निदेशक श्री सिन्हा का फोन आ गया कि फौरन शूटिंग बंद करके वापस आ जाऊं। मैंने पूछा, आखिर बात क्या हुई? तो उन्होंने बताया, तत्कालीन मुलायम सिंह सरकार में श्री बेनी प्रसाद ने मिनिस्ट्री में शिकायत की है कि उनके क्षेत्र में दूरदर्शन के लोग 'कसाईबाड़ा' की शूटिंग कर माहौल बिगाड़ रहे हैं। इसे बंद किया जाए। इसीलिए 'डायरेक्टरेट' से 'इंस्ट्रक्शन' है। उस इलाके में शूटिंग न की जाए।

मैं चकरा गया। मैंने कहा, इसमें तो



ऐसा कुछ भी नहीं है हिंदू-मुसलमान टाइप...जिससे माहौल खराब हो। सिन्हा साहब ने एक भद्दी-सी गाली देते हुए कहा, इन गधों को कौन समझाए, तुम वापस आ जाओ। शूटिंग बंद हो गई। टीम वापस लखनऊ लौट आई।

फिर से लोकेशन की खोजबीन हुई। बख्शी का तालाब के पास के कुछ गांव और बेहटा में शूटिंग का काम शुरू हुआ।

टीम में एक बस, दो कारें आम तौर पर होती थीं। कैमरा टीम एवं प्रोडक्शन दल के आठ-दस लोगों के अलावा लगभग तीस-पैंतीस कलाकार टीम में थे। दस-बारह महिलाएं-युवतियां तथा युवक, अंधेड़, वृद्ध चरित्रों के अनुरूप। क्राउड सीन में गांव के तमाशबीन लोगों का भी इस्तेमाल हो जाता था। मेकअप, सेट, प्रॉपर्टीज, कास्ट्यूम सभी विभागों के लोग साथ होते थे एवं आवश्यकतानुसार शूटिंग की व्यवस्था में सहयोग देते। इतने सारे कलाकारों के मेकअप में ही दो-तीन घंटे लग जाते थे। इस बीच प्रोडक्शन टीम के अन्य सदस्य चयनित लोकेशन की व्यवस्था दृश्य के अनुरूप कर देते थे। नाश्ता, पानी, भोजन आदि की व्यवस्था भी गांव वालों के सहयोग से हो जाती। शूटिंग का काम तो चल रहा था लेकिन मुश्किलें कम नहीं हुईं। अक्सर ऐसा होता कि जब पूरी टीम लखनऊ से चल रही होती तो खुला चमकीला आसमान होता था लेकिन जैसे ही शहर की सीमा समाप्त होती अचानक बादल घिर आते और तेज बारिश शुरू हो जाती। हालांकि यह बारिश का सीजन नहीं था। यह आश्चर्यजनक था क्योंकि यह एक बार नहीं, कई बार हुआ।

कुछ और मजेदार बातें। सुगना का पीछा करते हाथों में मशाल लिए सात-आठ नकाबपोश बदमाशों का दृश्य अंधेरा होने पर ही फिल्माया जाना था। इसके लिए एक आम का बाग मैंने पसंद किया था शूटिंग के लिए। इस बाग में खूबसूरत मोड़ वाली पगडंडियां थीं...जंगल का आभास था। मैंने अपने कैमरामैन को लोकेशन दिखा दी थी। दृश्य समझा दिया था। उसने अंधेरा होने के पहले ही लाइटिंग की व्यवस्था कर दी। 'शॉट' रेडी था। मैंने सोचा, अनजान जगह है, अंधेरे

में सांप आदि न निकल आएँ, कोई दुर्घटना न हो जाए किसी कलाकार के साथ, इसलिए मैंने उस पगडंडी पर भागना शुरू किया...थोड़ा पैर पटकते हुए ताकि आसपास कोई जीव-जंतु हो तो निकल जाय। मैंने गम बूट पहन रखे थे। मुझको भागते देख एक स्थानीय युवक, जो मुझे काफी सहयोग कर रहा था, भी भागने लगा। एक चक्कर पूरा होने पर उसने कहा, "अरे दादा, आपहू खूब जगह छांटे हो।" मैंने सशंकित हो उससे पूछा, "क्यों कोई खास बात?"

उसने पगडंडी के मोड़ वाले पेड़ की जड़ की ओर इशारा करते हुए कहा, "नाग देवता हर बिल मा झांक रहे हैं..." उसने मुझे पास ले जाकर दिखाया। मोटे-से तने के निचले हिस्से में ऊबड़खाबड़ मिट्टी में अनेक गोल छेद या बिल जैसे बने थे। उसने उन बिलों में टॉर्च की रोशनी फेंकी और मुझे देखने को कहा। उन बिलों में सचमुच कुछ चमक-सा रहा था, शायद सांपों की आंखें। मैंने उससे कहा, किसी से कुछ बोलना नहीं। अगर कलाकारों को या कैमरा-टीम को पता लग गया तो शूटिंग नहीं हो पाएगी। बहरहाल शूटिंग शुरू हुई। सुगना का रोल फरहाना कर रही थीं...वैसे वह कथक डांसर थीं पर अभिनेत्री भी अच्छी थीं। नंगे पांव उसे भागना था। उसके पीछे नकाबपोश गुंडों को...। विभिन्न एंगिल से अनेक शॉट फटाफट लिए गए। बिना किसी बाधा के शूटिंग पूरी हुई तो जान में जान आई। अंदर से मैं भी डर गया था।

प्रधान की पत्नी के स्वप्न-दृश्य को फिल्माना भी काफी दिलचस्प था...यह दृश्य भी रात में ही होना था। प्रधान के मकान की ओर चारों ओर से हाथों में डंडे-लाठी, मशाल लिए आक्रोशित भीड़ दौड़ती-भागती आती है, मकान को आग लगाती है...मकान धू-धू कर जलने लगता है...भीड़ प्रधान को आग में झोंक देती है। फिर...उसके बच्चे को भी आग के हवाले करना चाहती है और प्रधानिन की नींद खुल जाती है।

इस दृश्य को ध्यान में रखकर भी प्रधान के मकान का चयन किया गया था। ऐसा मकान जिसकी छत से गांव के

चारों ओर गलियां-रास्ते दिखाई दें। घर के आगे थोड़ा खुला-खुला-सा स्थान हो, जहां आग लगाकर मकान के जलने का आभास कराया जा सके। प्रधान का रोल सैयद मेंहदी कर रहे थे, जो वैसे तो हाईकोर्ट में काम करते थे किंतु अपनी आवाज और व्यक्तित्व से रौबदार लगते थे, थोड़े 'कनिंग' भी। दूरदर्शन पर उर्दू समाचार-वाचक थे। मूलतः अभिनेता थे, यह मैं नहीं कह सकता किंतु प्रधान के रोल के लिए फिट थे। प्रधानिन के रोल के लिए दूरदर्शन की प्रसिद्ध एनाउंसर और न्यूज-रीडर अर्चना सतीश को लिया था। चेहरे से बहुत 'सॉफ्ट', भावुक और निश्छल लगती थीं। वह अभिनेत्री थीं, मैं नहीं कह सकता किंतु प्रधानिन के चरित्र के लिए उनसे उपयुक्त लखनऊ में अन्य कोई मुझे नहीं रुचा।

प्रधान के बेटे का रोल मैंने अपनी छोटी बेटी हिमा जो उस समय तीन-चार साल की रही होगी, से कराया था। रात होते ही शूटिंग शुरू हो गई। पहले हाई एंगिल (मकान की छत से) से भीड़ के दृश्य फिल्माए गए, फिर मकान के बरामदे में एकत्र किए गए पुआल के ढेर में आग लगाकर प्रधान को आग में ढकेलने का दृश्य फिल्माया गया। फिर प्रधानिन से बच्चे को छीनकर आग में झोंकने के दृश्य को फिल्माया जाने लगा। आग की लपटें बहुत तेज उठ रही थीं तथा लपटों की गर्मी चारों ओर दूर तक अच्छी-खासी थी। यह थोड़ा ट्रिकी शॉट था। दो-तीन लोग जो बच्चे को मां से छीनते हैं, उन्हें बताया गया था कि बच्चा छीनकर दोनों हाथों से बच्चे को सिर के ऊपर तक ले जाकर आग में फेंकने का अभिनय करते हुए हाथ नीचे लाना है और बच्चे को नीचे लाकर आग की गर्मी से बचाकर भी रखना है। यह शॉट कई कट में हुआ—मां से बच्चे को छीनना, हवा में उछालना, मां का बच्चे के लिए छटपटाना...आदि।

शूटिंग पूरी होते ही मैं अपनी बेटी के लिए लपका जिसे कलाकारों ने अपने पैरों के पास छुपा रखा था, साथ ही, उसे आंच न लगे इसलिए उसे अपने हाथों से ढक भी रखा था। जब मैं उसे लेने लगा

तो मैंने महसूस किया लपटों की गर्मी वास्तव में बहुत तेज थी और यदि कुछ देर और शॉट चलता तो बेटी तो झुलसती ही, अन्य कलाकार भी निश्चित रूप से झुलस जाते। शॉट खराब न हो इसलिए सभी बेचारे खामोशी से शॉट देते रहे। किसी ने यह नहीं कहा कि आग की लपटों की गर्मी बहुत तेज है...या बर्दाश्त के बाहर हो रही है। जलते पुआल के ढेर से मात्र तीन-चार फुट की दूरी पर ही कलाकार थे।

एक अन्य दृश्य जिसमें अधरंगी बैसाखी के सहारे शनीचरी की चारपाई घसीटकर लाता है, फिर शनीचरी की लाश को उस पर लादकर घसीटते हुए शनीचरी के झोंपड़े में ले जाता है और झोंपड़े को ढहाकर आग लगा देता है, सामान्यतः लग रहा था, आराम से हो जाएगा, पर खासी दिक्कत आई। शनीचरी का अभिनय वेदा राकेश कर रही थीं। 'इप्ता' की कलाकार हैं, बढ़िया अभिनेत्री हैं। अधरंगी का अभिनय पवन झींगरन कर रहा था। बड़ी दाढ़ी, उलझे बाल तथा जमाने-भर के लिए गुस्सा उसके चेहरे से टपकता था। प्रधान के दरवाजे से शनीचरी की लाश को चारपाई पर डालकर बैसाखी के सहारे खींचते-घसीटते इस लकवाग्रस्त अधरंगी को ले जाना था। दूरी तो 'स्टैबलिश' करनी ही थी। गांव की ऊबड़खाबड़ घुमावदार गलियों के कुछ हिस्सों को चुना गया था, जहां से गुजरते हुए 'शाट' लेना था। 'विजुअली' यह अच्छे थे और इनकी पृष्ठभूमि में निरीह बकरियां या गाएं थीं।

शॉट लेना शुरू किया गया। खाली चारपाई घसीटने के शॉट में तो दिक्कत नहीं आई, पर जब शनीचरी की लाश को चारपाई पर डालकर घसीटने का शॉट लेना शुरू किया गया तो अधरंगी को पसीने छूट गए। घसीटना मुश्किल हो गया...वेदा खासी भारी थीं...भारी न भी हों तो ऊबड़खाबड़ कच्चे रास्तों में चारपाई ईंटों-गुम्मों-पत्थरों में अटक जाती, बार-बार रीटेक हो रहे थे। अधरंगी का बुरे हाल था और वेदा राकेश की पीठ छिल रही थी। चूंकि उन्हें लाश की तरह पड़े रहना था अतः चूं-चपड़-कराह भी नहीं सकती थीं। किसी तरह चीटिंग

करके शॉट्स लिए गए। फ्रेम के बाहर दो-दो, तीन-तीन लोग चारपाई को ढकेलकर अधरंगी की मदद कर रहे थे। कुछ-एक 'स्टैबलिशिंग' शॉट्स और बाकी छोटे-छोटे कट्स, क्लोज शॉट्स, रिएक्शन शॉट्स। जैसे-तैसे सीन कंपलीट हुआ।

दरअसल फिल्म का काम 'कहीं की ईट कहीं का रोड़ा' होता है। सब चीटिंग। इस फिल्म के लिए सात-आठ गांवों की अलग-अलग तमाम लोकेशंस का इस्तेमाल किया गया। प्रधान के घर का बाहरी हिस्सा एक गांव के किसी घर का और अंदरूनी हिस्सा किसी दूसरे गांव के किसी अन्य घर का। शनीचरी की झोंपड़ी का भी अंदर का हिस्सा एक जगह, तो बाहरी हिस्सा दूसरी जगह। किसी गांव का कुछ हिस्सा अच्छा लगा तो किसी अन्य गांव का कोई दूसरा हिस्सा। इस फिल्म के निर्माण में मुश्किलें भी इतनी आईं कि किसी एक लोकेशन पर टिककर काम नहीं हो सका। किसी न किसी कारण से शूटिंग बंद करनी पड़ी। अब एक गांव में कुछ सीन तो हो गए, शूटिंग रुक जाने पर बाकी दृश्यों के लिए उसी से मिलती-जुलती लोकेशन ढूँढना भी काफी चुनौतीपूर्ण था।

फिल्म के कई दृश्य काफी मजेदार थे। अधरंगी अपने मन का गुबार निकालने के लिए प्रधान और लीडर दोनों के पुतले बनाता है और सरेआम फांसी पर लटकाता है। शनीचरी उन पुतलों को ही लाठी से पीट-पीटकर गालियां देती निढाल हो जाती है क्योंकि उसका बस प्रधान पर और हालात पर नहीं चलता। काफी प्रभावशाली दृश्य बन पड़ा था।

निर्माण में बार-बार रुकावट के कारण एक तरह से यही उद्देश्य रह गया था कि जैसे-तैसे फिल्म कंपलीट की जाय। इस कारण रचनात्मकता काफी हद तक पीछे छूट गई थी और अनेक जगह समझौते करने पड़े थे। सामूहिक विवाह के दृश्य में विदाई के लिए मैं छह-सात सजी-धजी बैलगाड़ियां चाहता था। समय की कमी के कारण जिस बस में यूनिट शूटिंग के लिए आती थी, उसी से वर-बधुओं को विदा कर दिया गया। कई दृश्यों में इसी प्रकार समझौते करने पड़े।

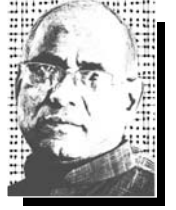
कुल मिलाकर शूटिंग पूरी हो गई तो

संपादन कार्य प्रारंभ हुआ। शूटिंग में करीब बीस-पच्चीस दिन तो लगे ही होंगे। संपादन में भी लगभग दस दिन लगे। बैकग्राउंड म्यूजिक, ध्वनि-प्रभाव, कैप्शन आदि का कार्य पूरा होने पर अंततः एक दिन शिवमूर्ति जी को फिल्म देखने के लिए मैंने बुलाया। एडिटिंग रूम में ही प्रिव्यू रखा गया था। दूरदर्शन, लखनऊ के निदेशक श्री आर. के. सिन्हा भी थे, जिनकी वजह से फिल्म का निर्माण पूरा हो पाया था। शीर्षक में दो अक्षर जोड़ना फायदेमंद रहा। 'कथा कसाईबाड़ा' पूरी हो गई थी। डकैती और हत्या जैसी घटना के बाद भी कार्य रुका नहीं। लोकेशन बदल दी गई थी।

फिल्म शुरू हुई तो मैं शिवमूर्ति जी के चेहरे के भावों को पढ़ने की कोशिश बीच-बीच में करता रहा, किंतु अंधेरे में पढ़ नहीं सका। पूरी फिल्म देख लेने के बाद जब एडिटिंग रूम में सामान्य लाइट्स जलीं तो भी मैं उनके चेहरे को पढ़ नहीं सका किंतु तत्काल ही शिवमूर्ति जी ने प्रशंसा के स्वर में कहा, "स्थानीय कलाकारों के साथ आपने इतनी अच्छी फिल्म बना ली। बासु चटर्जी, ओम पुरी, नसीरुद्दीन शाह जैसे बड़े-बड़े कलाकारों को लेकर भी मेरी कहानी 'तिरियाचरित्त' के साथ न्याय नहीं कर सके।" श्री सिन्हा भी प्रशंसा कर रहे थे। लेकिन मुझे लग रहा था कि 'कसाईबाड़ा' पर बनी यह फिल्म कुछ अधूरी-सी है। जैसा मैं चाहता था वैसी बन नहीं सकी। कभी मौका मिला तो फिर कोशिश करूंगा।

'कसाईबाड़ा' आज भी प्रासंगिक है और मुझे लगता है इस पर अभी काम करने की जरूरत है। एक सरकारी तंत्र से काम करना और प्राइवेट सेक्टर के लिए कमर्शियल नजरिए से 70 एम. एम. स्क्रीन के लिए फिल्म बनाने में जमीन-आसमान का अंतर है। 'कसाईबाड़ा' को आसमान छूना अभी बाकी है। आमिर खान की 'पीपली लाइव' की सफलता मेरी इस धारणा को मजबूती प्रदान करती है।

□



## कैमरे की आंख से देखते हैं शिवमूर्ति



### कमल पांडेय

जन्म : अगस्त 1975।

स्थान : उत्तर प्रदेश के चित्रकूट जनपद के छीबो गांव में।

शिक्षा : स्नातक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

टेलिविजन साहित्य धारावाहिकों के लिए कथा-पटकथा और संवाद लेखन।

आंच, शक्ति द पॉवर, शागिर्द, मिलन टॉकिंग और निर्माणाधीन फिल्मों के लिए कथा-पटकथा और संवाद लेखन।

सम्मान : लाडो और देवी के लिए सर्वश्रेष्ठ कथा और पटकथा के कई पुरस्कार।

संपर्क : 9819649405

जनवरी-मार्च 2011

मध्यरात्रि की हवा में नमी है...और अरब सागर की लहरों में तेज उछाल...अपने पूरे ज्वार के साथ उठती, मुंबई की ये समुद्री लहरें तटीय चट्टानों से टकरा-टकरा कर अपनी आवाज के शोर से उनींदे शहर को जगा रही हैं...वैसे भी मुंबई एक ऐसा शहर है...जिसको नींद नहीं आती और मुंबई का आदमी कभी थकता नहीं...हां, जागते-जागते कभी-कभी जरूर सोता है ये शहर...!

मेरे समकालीनो, प्रिय आत्मजनो, मित्रो, सुधी पाठको...! मैं भी आज रात सो नहीं पा रहा हूं...एक फिल्म जो देख रहा हूं...मेरे जीवन की ऐसी फिल्म जिसे मैं निरंतर देखता रहा हूं...जो मेरी स्मृतियों के पर्दे पर अक्सर अपने सारे जादुई बिंबों और नाटकीय कथानक के साथ अपने आप चल पड़ती है...

इस फिल्म के नायक हैं कथाकार शिवमूर्ति और इस फिल्म में उनका पीछा कर रहा है 19 साल का एक इवल...बुंदेलखंड की सरजमीं का एक ऐसा...इवल जो अपनी गरीबी, अपने दुखों, अपने अभावों, अपनी मजबूरियों और अपनी अनंत पीड़ाओं के बावजूद अपनी आंखों में अनंत सपने बसाए है...जो अपने सीने में मौजूद महाबली डर के बावजूद दुनिया को जीत लेने की ललक लिए हुए है...जिसे नहीं पता कि उसकी विराट आकांक्षाओं की मंजिल क्या है...उसकी भूख की रोटी कौन-सी है... और वो राह कौन-सी है...जिस राह उसे बढ़ना है...वो किले कौन से हैं जो उसे जीतने हैं...उसे तो बस ये पता है कि वो अपने दुखों को कविता में लिख सकता है...अपने संघर्षों को शब्द देकर कागजों पर दस्तावेजों की तरह दर्ज कर सकता है... जिसे ये नहीं पता था कि अकीरा कुरोसोवा कहां पैदा हुए हैं या कि ऑसर्न वेल्स ने कौन सी फिल्म बनाई है या कि इंगमार बर्गमैन कौन हैं या कि विटोरियो डिसिका धरती पर जन्मे जा चुके किस प्राणी का नाम है... या कि जोल्तान जाबरी इतना बड़ा महादर्शी कैसे बना...। ये सारे महान फिल्मकारों के नाम उसके लिए अजनबी थे...

सच तो ये है कि सिनेमा ही उसके लिए चौंकाने वाली बात थी...चित्रकूट जनपद के छीबो गांव का ये लड़का सिर्फ तब किसी भी तरह कामयाब होने और सम्मान की जिंदगी के सपने देखता था...वो भी अपने उस साहित्य के जरिए जो अभी रचा नहीं गया था...उन विचारों के जरिए जिनका अभी जन्म नहीं हुआ था...।

महत्वाकांक्षी और धुन के पक्के लड़के ने कक्षा चार में एक कहानी पढ़ी थी—कसाईबाड़ा और ये कहानी किसी महान फिल्म की तरह उसके दिलो-दिमाग के पर्दों पर रील-दर-रील भागती रहती थी...और वह इस कहानी के लेखक को चौथी कक्षा से ही खोज रहा था...। यह तलाशी अभियान अचानक पूरा हुआ...बी.ए. फर्स्ट ईयर में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी पहुंचने पर। इस लड़के को पता चला कि कसाईबाड़ा के लेखक शिवमूर्ति इलाहाबाद में सेल्स टैक्स अधिकारी हैं...और अपनी चेन उतरती साइकिल की चेन चढ़ाता-चढ़ाता ये लड़का पहुंच गया शिवमूर्ति के पास...।

प्रिय दोस्तो, ये कहानी यहीं से शुरू होती है...अब इस लड़के का नाम जान लीजिए—ये कमल पांडेय है...कमल पांडेय अब शिवमूर्ति की सारी कहानियां पढ़ता है एक-एक कर...और अपने अंदर हैरानी भरता रहता है कि ये कहानियां दिखती क्यों हैं...अक्षरों की तरह दिल पर छपने की जगह दृश्यों में दिखती क्यों हैं...

बरसों बाद मुंबई पहुंचने पर पता चला कि सिनेमा से ये मेरी पहली मुलाकात थी और ये भी पता चला कि जिंदगी और सामाजिक सच्चाइयों को शिवमूर्ति कैमरे की आंख से ही देखते थे...इसीलिए उनकी कहानियां दिखती थीं...पात्र जिंदा दौड़ते थे दिलों में...और ये भी पता चला कि इन कहानियों ने ही मुझे जिंदगी देखने की कला से अवगत कराया और दृश्यों से, बिंबों से नाता जुड़ा और मेरे अंदर एक फिल्मकार का जन्म हुआ...।

चाहे वो मुंबई का संघर्ष रहा हो या फिर दक्षिण कोरिया, इंडोनेशिया और फिर हिंदुस्तानी टेलीविजन की दुनिया में एक कामयाब लेखक बन जाने का नशा...चाहे पैसों की चकाचौंध रही हो...मुंबई में एक साथ तीन-तीन बड़े अपार्टमेंट्स खरीदने की खुशी...! हर पल मुझे यही लगता है कि अब मुझे अपनी कहानियों को जिंदा देखना है बड़े पर्दे पर...

पिछले साल टेलीविजन में लेखन के कथा-पटकथा के सारे एवार्ड जीतने के बाद मुझे शिवमूर्ति की कहानियों की फिर बहुत याद आई और याद आया मेरे सफर में उन कहानियों का योगदान...वो प्रेरणा...जो मुझे उन कहानियों ने दी और वह पहला संकल्प मुंबई जाकर फिल्मकार बनने का जब शिवमूर्ति की कहानी तिरिया-चरित्तर पर फिल्म बनाने बासु चटर्जी इलाहाबाद आए...बहुत डरते, सकुचाते हुए एक शाम मैंने शिवमूर्ति जी से कहा कि मुझे फिल्म लिखना है...फिल्में बनानी हैं...और तब उन्होंने कहा था कि यही आपकी मंजिल है मुझे पता है...मेरी पहली कहानी पढ़ी थी शिवमूर्ति जी ने... और उन्हें लगा था कि मैं सिनेमा के लिए ही बना हूँ...

बी.ए. की पढ़ाई पूरी होते ही शिवमूर्ति मुझे लेकर दिल्ली आए और अपने एक दोस्त चंद्रदेव यादव के साथ अब्दुल बिस्मिल्लाह जी के फ्लैट में पंद्रह दिनों तक मेरे रुकने की व्यवस्था करवाई और ये कहकर वापस इलाहाबाद चले गए कि अब आगे का रास्ता यहां से मुंबई तक का तुम्हें खुद तय करना है...माफ करना मेरे आत्मजनो, अपने बारे में ही कहता जा रहा हूँ...पर क्या करूं...बाबा



टेलीफिल्म 'कसाईबाड़ा' के एक दृश्य में प्रधान (सैयद मेहंदी) एवं उनकी पत्नी (अर्चना सतीश)

निर्देशक : सुशील कुमार सिंह

तुलसीदास ने भी तो लिखा है—स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा...मित्रो, मैं भी यहां खुद को बोध देने के लिए ही स्मृतियों की यह फिल्म देख रहा हूँ...

कम शब्दों में, यह रात बीत जाने से पहले, अरब सागर की इन लहरों के थक जाने से पहले मुंबई महानगर के जग जाने से पहले, मुझे इस फिल्म को देख लेना है...इस फिल्म के अगले दृश्यों में यह लड़का शिवमूर्ति जी के पूरे साहित्य को पढ़ जाता है और शिवमूर्ति जी के जरिए ही वो अपने प्रिय कथाकार उदय प्रकाश ...संजीव...प्रियंवद...सृजय...चंद्रकिशोर जायसवाल...और साहित्य के दूसरे महारथी लेखकों के लेखन से परिचित होता है और मंत्रमुग्ध भी...अपनी समझ और सोच के फैलते आकाश में अब वो अपने जीवन का रास्ता देख रहा है...

याद है इस लड़के को जब वो इलाहाबाद में हिंदी के एक गरीब कवि के घर से लौटा तो इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में रास्ते-भर वह रोता रहा...इस गरीब कवि के गरीब घर में उसे उस मूर्धन्य कवि के दुख दिख गए थे...तभी एहसास हुआ था इस लड़के को कि बुद्ध बनने के लिए महल में पैदा होना पड़ता है...गरीब आदमी को सपने में रोटी-भात ही नजर

आता है...शायद चारों तरफ फैले दुख से ऊबकर ही इस लड़के ने किताबों की दुनिया में नहीं सिनेमा की दुनिया का साहित्य लिखने की सोची...क्योंकि उसमें रोटी के सपने ज्यादा चटक दिख रहे थे...हालांकि सिनेमा की दुनिया तक पहुंचने के वर्ष बड़े खतरनाक थे...डरावने थे...हर जगह चोट मिल रही थी...

इस लड़के को फिल्म का एक दृश्य और भी याद है...दिल्ली में घोर संघर्ष के दिनों में जब यह लड़का घर की तलाश में भटक रहा था तो कथाकार उदय प्रकाश से मुलाकात हुई...जे.एन.यू. के ओल्ड कैम्पस में उदय प्रकाश अपनी सुविधा के लिए परिवार से अलग एक घर किराए पर लेकर रहते थे...क्योंकि उनकी शूटिंग वहीं आसपास चलती रहती थी... उन्होंने मुझे 800 रुपए महीना, किराएदार के तौर पर अपने साथ रख लिया और मुझसे कहा कि आप चूंकि मनोहर श्याम जोशी को पेज करते हैं...आपका दायरा बड़ा है और direct tv serials और फिल्मों से जुड़ा है तो हम दोनों भाई मिलकर लिखेंगे भी और साथ रहेंगे भी...पर जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि मैं घोर स्ट्रगलर हूँ और जब मैं एडवांस नहीं दे पाया उन्हें तो वे मेरे सामान के



टेलीफिल्म 'कसाईबाड़ा' के एक दृश्य में लीडरजी (अशोक सूर) एवं शनीचरी (वेदा राकेश) अन्य ग्रामीणों के साथ। निर्देशक : सुशील कुमार सिंह

साथ घर पर ताला लगाकर रोहिणी अपने घर चले गए...मैं दिल्ली की सड़कों पर भटकता रहा...उनसे गिड़गिड़ाता रहा कि ताला खोल दीजिए...मैं अपना सामान ले लूं...पर वो मुझे फोन पर धमकाते रहे कि

करता है...

मैंने उनकी बात ध्यान से सुनी और इस बात को दिल से निकाल दिया कि हिंदी के एक महान और बेहद पठनीय और आज भी मेरे प्रिय कथाकार उदय

**पर उनकी नजरों में इंसान सिर्फ लेखक...फिल्मकार...पेंटर और किसी बड़े फोटोग्राफर में ही मिलता था...बड़ी मुश्किल से मैं अपना सामान निकलवा पाया और पहले फोन शिवमूर्ति जी को किया और फोन पर रो पड़ा...कमाल की बात ये है कि शिवमूर्ति जी ने कहा कि अच्छी बात तो ये है भइया कि ऐसी ही बातें, ऐसे ही आंसू...ऐसी ही ठोकरें आपके वह बनाएंगे जो आप बनने गए हैं...दुख मांजता है, ठोकरें मजबूत बनाती हैं...और अभाव सोचने पर विवश करता है...**

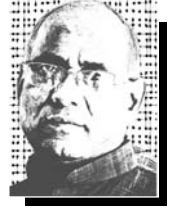
आप क्या हैं...कोई महान लेखक...महान फोटोग्राफर...महान पेंटर...आप तो सिनेमा-उनेमा के जरिए पैसे कमाने आए हैं...मैं आपकी मदद क्यों करूं...?

मैंने कहा कि इंसानियत के नाते मेरा सामान दे दीजिए पर उनकी नजरों में इंसान सिर्फ लेखक...फिल्मकार...पेंटर और किसी बड़े फोटोग्राफर में ही मिलता था...बड़ी मुश्किल से मैं अपना सामान निकलवा पाया और पहले फोन शिवमूर्ति जी को किया और फोन पर रो पड़ा... कमाल की बात ये है कि शिवमूर्ति जी ने कहा कि अच्छी बात तो ये है भइया कि ऐसी ही बातें, ऐसे ही आंसू...ऐसी ही ठोकरें आपके वह बनाएंगे जो आप बनने गए हैं...दुख मांजता है, ठोकरें मजबूत बनाती हैं...और अभाव सोचने पर विवश

प्रकाश ने मेरे साथ क्या किया था...आज भी उनकी कहानी मैं सबसे पहले पढ़ता हूं...दोस्तो यहां इस घटना का उल्लेख उदय प्रकाश जी से किसी प्रकार की शिकायत की वजह से नहीं किया मैंने बल्कि शिवमूर्ति जी के उस रिएक्शन के लिए किया है जो उन्होंने उस वक्त दिया था...

बाद के वर्षों में मैं मुंबई पहुंचा...मेरे गुरुदेव...मेरे भाग्य-निर्माता कमलेश्वर जी मुझे मुंबई ले गए और वो भी शिवमूर्ति जी की तरह मुंबई में छोड़कर और यह कहकर दिल्ली चले गए कि मुंबई में समंदर है...यहां चाहो जितनी दूर तक तैर लेना पर कभी समंदर का पानी मत पीना बीमार पड़ जाओगे...

मित्रो, यह लड़का हिंदी का साहित्य



कभी नहीं लिख पाया; पर अपने साहित्य से हिंदुस्तान के टेलीविजन को खूब सींचा ...पर हिंदी के इन दो महान लेखकों (लेखकों से भी बड़े महान व्यक्तित्वों) का वो हमेशा कर्जदार रहेगा...वह कर्ज जिसे कभी चुकाया नहीं जा सकता...बाद के वर्षों में यह लड़का एक के बाद एक सुपरहिट टीवी सीरियल्स लिखता है...फिल्में लिखता है...दक्षिण कोरिया और इंडोनेशिया में एक दर्जन धारावाहिक और सात फिल्में भी लिखीं इस लड़के ने और जहां भी गया...जब भी खुश और उदास हुआ, जब भी गाइडेंस की जरूरत महसूस की, तब-तब शिवमूर्ति जी को फोन किया...और अपने ठेठ गंवई अंदाज में शिवमूर्ति जी अपने अनुभवों का लाभ इसे देते रहे...

दिल्ली की सड़कों पर बिना घर के भटकने का ही परिणाम था कि इस लड़के ने मुंबई में तीन-तीन अपार्टमेंट्स खरीदे.. .बाद में ये लेखक से प्रोड्यूसर बना...पर जल्दी ही उसे समझ में आ गया... कि ढेरों पैसा और बहुत सारे बड़े घर उसका लक्ष्य नहीं हैं...उसका लक्ष्य है सिनेमा...तो आज जब अपने पहले फिल्म के निर्देशन की ओर ये लड़का बढ़ रहा है...आज रात फिर उस फिल्म को ये देख रहा है जो उसके जीवन की फिल्म है...यह बहुत पर्सनल बातें हैं...एक आत्ममंथन है...दिल के विचार हैं...और मेरे और मेरे बड़े भाई बन चुके शिवमूर्ति के रिश्तों की कहानी है...

यह फिल्म चलती ही रहेगी...जब ये लड़का बहुत सारी फिल्में बना चुका होगा तब भी अपने एकांतों में बैठकर ऐसी ही तमाम रातों में जागकर ये लड़का कमल पांडेय इस फिल्म को देखता रहेगा... विटोरियो डिसिका...की 'बाइसिकल थीफ' की तरह यह फिल्म भी कमल पांडेय के जीवन की सबसे अनमोल फिल्म जो है..

□

# मंच और पंच

## कथा में गांव



प्रस्तुति  
रामजी यादव

संपर्क : 974, ए-2 तिनारीपुर, जे.के. रेवन गेट  
के सामने, जाजमऊ, कानपुर 208-010  
मो. : 9995266693

हिंदी ग्राम्य कथा का समकालीन परिप्रेक्ष्य शिवमूर्ति के कथा साहित्य और रचनाशीलता के बिना न सिर्फ अधूरा है बल्कि व्यापक श्रमशील आबादी के संघर्षों और जिजीविषा से खाली भी है। इस संदर्भ में हमने समकालीन हिंदी आलोचना और साहित्य में मौजूद लेखकों-आलोचकों के समक्ष कुछ सवाल रखे जो विसरते गांव, टूट होती संवेदनाओं और बाजार के बढ़ते वर्चस्व में ग्राम्य कथा लेखन की पड़ताल से जुड़े थे। लेकिन यह देखकर हमें गहरी निराशा हुई कि इनमें से ज्यादातर ने शिवमूर्ति को पढ़ा ही नहीं है, न जरूरत ही समझते हैं। बल्कि इससे आगे बढ़कर मौजूदा परिवेश में ग्राम्य जीवन की विविधताओं और परिवर्तनशील प्रवृत्तियों पर भी उन्होंने अनभिज्ञता जाहिर की। लिहाजा हमने उनसे प्राप्त उत्तरों के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करना ही श्रेयस्कर समझा। यहां प्रस्तुत टिप्पणियां उन्हीं उत्तरों से प्राप्त तथ्यों पर आधारित हैं।

—संपादक

### ● मैनेजर पांडेय



जो आज के हिंदी लेखक हैं उनमें से अधिकांश गांव से आए हैं, यह बात सही है। लेकिन उनमें से बहुत कम आज गांव की वास्तविकताओं और समस्याओं के अनुभवों से परिचित हैं। यही नहीं कि उन्हें उनका कोई अनुभव नहीं है बल्कि अनुभव वालों के अनुभव के स्वरूप से भी वे परिचित नहीं हैं। अधिक-से-अधिक उनके अनुभव अखबारों के समाचारों के माध्यम से बने हुए हैं। हिंदी के अखबारों की स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी जानकारी भी सही नहीं लगती। अनुभव की बात तो बहुत दूर है। तब अधिक-से-अधिक गांवों से जुड़ाव दो स्तरों पर हो सकता है और है भी...एक तो स्मृति के रूप में और दूसरा स्मृति का ही और बिगड़ा हुआ रूप नास्टेल्लिया के रूप में। इन दो रूपों में गांव की जिंदगी जहां-तहां दिखाई देती है। कुछ लेखक हिंदी में ऐसे हैं जो गांव की भाषा, बोली और जिंदगी का अपनी रचनाओं में सजावट की वस्तु के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

यह सही है कि जैसे नागार्जुन की गांव की जिंदगी से जुड़ी कविताओं का एक बड़ा आधार किसानों का आंदोलन था, उसी तरह कथा-साहित्य में भी दिखाई देता है, चाहे वह किसी भी पार्टी के साथ जुड़ा हो। नई कहानी के जो कथाकार मुझे याद आ रहे हैं उनमें शिवप्रसाद सिंह, मार्कंडेय और विवेकी राय आदि ने गांव की कहानियों लिखीं और उसकी सूचना उन्हें गांव के आंदोलनों से मिलती थी। यह सही है कि हाल के वर्षों में इस देश में पूंजीवाद में भूमंडलीकरण के दौर में किसानों की तबाही और बर्बादी जिस बड़े पैमाने पर हुई उस बड़े पैमाने पर कोई किसान आंदोलन विकसित नहीं हुआ।

मेरा ख्याल है कि भारत के इतिहास में और संभवतः दुनिया के इतिहास में दो लाख से अधिक किसानों की आत्महत्या में घटना पहले कभी नहीं हुई थी। पिछले



बीस वर्षों की आर्थिक-राजनीतिक नीतियों के कारण किसान-जीवन की इतनी बड़ी ट्रेजेडी हुई है। पर चूंकि कोई किसान आंदोलन बड़े पैमाने पर नहीं हुआ और जो हुए वे भी लंबे काल तक नहीं चले, इसलिए उनकी ओर कवियों-लेखकों का ध्यान नहीं गया।

गांव की जिंदगी पर कहानियां और उपन्यास लिखने का काम शिवमूर्ति और संजीव ने किया। इन दोनों की जहां-तहां तारीफ करने वाले लोग मिल जाते हैं पर उनकी रचनाओं का विस्तार से विश्लेषण करने और उन रचनाओं की जमीन को पहचानने का काम बहुत कम हुआ है।

### ● रामदरश मिश्र



मैं स्वीकार नहीं कर पा रहा हूं कि ग्राम्य जीवन पर आधारित कथा साहित्य को अप्रासंगिक मान लिया गया है। मैत्रेयी के उपन्यास गांव पर ही आधारित हैं। मैंने इधर बीच बहुत पढ़ा नहीं है।

गांव पर जो भी अच्छा लिखा गया है उसकी चर्चा खूब हुई है और प्रेमचंद के बाद नागार्जुन, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय, शिवमूर्ति, संजीव, मधुकर सिंह, मिथिलेश्वर 'विजेंद्र' अनिल और विजयकांत आदि का कथालेखन कथा साहित्य की उपलब्धि रहा है।

### ● आनंद प्रकाश



बुनियादी कारण मेरी राय में महज एक है। वह है आजादी के बाद हुए विकास के अंतर्गत विशाल मध्य वर्ग का उभार। यह मध्य वर्ग धीरे-धीरे शहर और कस्बे की जीवन-स्थितियों पर केंद्रित होता गया है। यह संभवतः शिक्षा एवं नौकरियों के कारण हुआ है जो इन जगहों पर उपलब्ध हैं।

फिर, यह एक सामान्य स्थिति है कि हिंदी का लेखक न केवल मध्य वर्ग से आता है, बल्कि वह मध्य वर्ग की स्थितियों को समूचे जीवन की स्थितियां मानने लगा है। गांव की स्थितियां उसकी समझ के दायरे में प्रवेश नहीं करतीं। यह

मध्यवर्गीय लेखक की निजी प्राथमिकता का पक्ष है, जो उसे निजबद्ध और संकुचित बनाता है। अवसरवादी और समझौतापरस्त।

### ● मैत्रेयी पुष्पा



गांव पर लिखने के लिए गांव के अनुभव चाहिए। लेकिन गांव से नाता ही नहीं रहा। गांव पर लिखना कठिन है। हल जोतते हुए क्या फीलिंग होती है इसे शहर का आदमी क्या जाने! उसे तो यही नहीं पता कि हल क्या होता है? कौन-सा पौधा किस चीज का है?

दूसरे जो लोग शिक्षा पा गए हैं और नौकरियां करने शहर में आ गए हैं उनका गांव के प्रति लगाव कम होता गया है। कहना चाहिए कि हम ज्यादा भौतिकवादी या सुविधाभोगी होते चले गए। गांव के माहौल की बजाय हमें सुविधाएं ज्यादा अजीज लगीं। यह सबकी तमन्ना हो सकती लेकिन जो लेखक होता है वह भी यह तमन्ना करे तो फिर लिखेगा क्या?

जहां तक दूसरी बात है तो यह अप-टू-डेट इसलिए नहीं हो पाती कि अब वे यानी लेखक वहां नहीं रहते। जब रहेंगे नहीं तो वहां के ताने-बाने को समझ नहीं पाएंगे। एक बार एक कार्यक्रम में मृणाल पांडे ने कहा कि जब मैं गांव जाती हूं तो वहां की महिलाएं कुछ बताती ही नहीं। पूछने पर कहती हैं सब ठीक है। अब बताइए उनके बारे में हम कैसे जानें? मैंने कहा कि आपका जाना कभी-कभी होता है। आप मेहमान हैं, आपकी वेशभूषा अजनबी होती है, स्टैंडर्ड ऊंचा होता है। भाषा भी मंजी हुई होती है तो उन पर एक रौब पड़ता है। इसलिए आपके पूछने पर वे कहती हैं सब ठीक है। मैं उन्हीं में से एक हूं। कुछ महीने तक वहां रह जाती हूं। बोली-बानी भी वैसी है। उन्हीं से मेल खाता है।

शिवमूर्ति ने नवें दशक में जिन गांवों को कथा-साहित्य में स्थापित किया, वे नास्टेल्लिया के गांव नहीं हैं। वे आज के गांव हैं। वहां के लोगों की निराशा, संघर्ष जिजीविषा और राग-द्वेष उनकी कहानियों में इतने वास्तविक ढंग से आए हैं जो

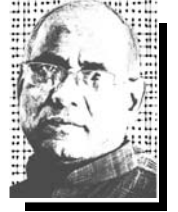
बहुत कम लोगों के कथा-साहित्य में पाया जाता है। ऐसे ही एक महत्त्वपूर्ण लेखक संजीव हैं जिनके पास गांव के अनुभव के साथ ही समाज का सकारात्मक पक्ष उजागर करने का विजन भी है।

शिवमूर्ति को हम इस रूप में देखते हैं कि वे कथानक और अभिव्यक्ति के स्तर पर बहुत सक्षम ढंग से गांव को लाते हैं। शिवमूर्ति वे बातें कहते हैं जो हम जानना चाहते हैं। वे उसे उस अंदाज में कहते हैं जिस अंदाज में वह दीखता है। लोग कहते हैं कि पद की वजह से वे चर्चित हुए हैं लेकिन यह बिल्कुल गलत है। उनका कथा-साहित्य सिफारिश का मुहताज नहीं। उनका योगदान ग्रामीण और निम्नवर्ग के पात्रों को उठाने में है जिन्हें और लोगों ने नहीं उठाया है। 'तिरिया-चरित्तर' को ही ले लो। ईट-भट्टे पर काम करने वाली लड़की की कहानी है। वह गरीब होने के कारण तो हाशिए पर है ही, स्त्री होने के कारण भी सबसे ज्यादा सताई जाती है। वहां जाति-उत्पीड़न नहीं लिंग-उत्पीड़न है।

'केशर-कस्तूरी' को ले लो। ग्रामीण मार्मिकता और यथार्थ का जितना गहरा चित्रण शिवमूर्ति ने किया है वह विलक्षण है।

आलोचना से सारा साहित्य नहीं चलता। साहित्य में अपना दमखम तो होना ही चाहिए। आज 'गोदान' को कौन नकार सकता है। वह हिंदी का न केवल क्लासिक है बल्कि सबसे ज्यादा समकालीन भी है। स्वतंत्रता के बाद चीजें जिस तेजी से बदली हैं, उसमें यथार्थ का कोई ऐसा रूप नहीं रहा जिसे कथा-साहित्य का मेटाफर बना दिया जाए। लगता है कि कुछ लोग क्लास-रूम के लिए ही लिखते हैं। लगता है लेखन से ईमानदारी गायब होती जा रही है। हालांकि यह भी सच है कि आज के ज्यादातर आलोचक बिकाऊ हो गए हैं, जिसका खा रहे हैं उसी का गा रहे हैं।

बाजार का दबाव लेखन पर बहुत तेजी से बढ़ा है। दो-तिहाई यह संपादकों की नीति का हिस्सा है कि किसको उठाना और किसको गिराना है। पत्रिकाएं बेचने की होड़ लगी है। अंक प्रोजेक्ट किए जा



रहे हैं। स्वयं लेखकों में पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार और पैसे की ललक बढ़ गई है। कुल मिलकर स्थिति निराशाजनक है लेकिन इसका जवाब भी देना ही होगा।

### ● राजेन्द्र यादव



एक बात ध्यान में रखिए कि जिन्हें हम गांव की कहानियां कहते हैं उनके आदि गुरु प्रेमचंद हैं। दूसरा नारा दिया है मार्कंडेय ने—गांव की कहानियां। मार्कंडेय में एक खास किस्म की रोमांटिसिज्म था। आदर्शवाद था। वह शहर में बैठकर गांव की कहानियां लिखने की मानसिकता थी। पीछे कहीं मार्क्सवाद था। इसके साथ ही जो दूसरे लेखक हैं—मटियानी और फनीश्वरनाथ रेणु। रेणु में गांव का जीवंत अनुभव है। उन्होंने गांव से निरंतर संपर्क बनाए रखा लेकिन उनमें एक भावुकता है। इस मामले में शैलेश मटियानी सबसे निकट लगते हैं गांव के, हालांकि रेणु आज भी माइल स्टोन हैं। 'आधा गांव' से लेकर 'रागदरबारी' तक सब गांव की कहानियां हैं। इधर जो गांव की कहानियां आई हैं, खास तौर से संजीव—ये भरसक शोध करते हैं फिर अपनी कहानी को वहां के यथार्थ से जोड़ते और वहां से चरित्र उठाते हैं। मुझे लगता है गांव को लेकर इनके मन में एक नास्टेल्लिया है। इसके साथ ही शिवमूर्ति ने स्मार्ट भाषा और फोटोग्राफिक दृष्टि से गांव की समस्याओं को लिया। उनके बाद बहुत से लोगों ने गांव की कहानियां लिखीं लेकिन उनमें से किसी का व्यक्तित्व ऐसा नहीं रहा कि वे शुद्ध गांव के हों। गांव भी अब वह गांव नहीं रहा। उसमें शहर घुस गया है। छोटे और असमर्थ किसान गांव से भागकर शहर आते हैं जहां वे मजदूरी करते हैं या रिक्शा चलाते हैं। इनमें जो शहर में आकर बसे हैं उनमें गांव को लेकर ललक है, क्योंकि इनके परिवार वहां फूटे हुए हैं। वे सब कलकत्ता, पंजाब, दिल्ली, बंबई तक जा रहे हैं। गांव लगभग पलायन के क्षेत्र हैं।

जो पढ़े-लिखे हैं वे दूसरे बड़े अवसरों की तलाश के लिए शहर में आए हैं। इस तरह गांव में रह गए हैं बूढ़े और स्त्रियां। मुझे ध्यान नहीं आता कि इस दृष्टि से किसी ने गांव का अध्ययन किया है या नहीं। राजू शर्मा के उपन्यास 'विसर्जन' की बड़ी चर्चा है कि उसमें आत्महत्या

करते किसानों की कहानी बेहद संवेदना से लिखी गई है। बिहार जैसे प्रदेश के गांवों के दलित भूमिहीन अक्सर नक्सल आंदोलन के साथ जुड़ गए इसलिए दलित उत्पीड़न की कहानियां बिहार में सबसे कम सुनाई पड़ती हैं क्योंकि वे अपने अनुभवों और स्थितियों के कारण संघर्षशील और आक्रामक हो चुके हैं।

मैं खुद गांव से बहुत कटा रहा हूं। मेरे अनुभव का क्षेत्र गांव कभी नहीं रहा। थोड़ी-बहुत सूचनात्मक जानकारियां अपने पिता के साथ किशोर उम्र में मुझे मिलती रही हैं, बस उतना ही प्रत्यक्ष है। पिता जिला-परिषद् में डॉक्टर थे और मथुरा जिले के दो-तीन कस्बों में उनका तबादला होता रहता था। सबसे अधिक समय उन्होंने सुरीर नामक कस्बे में गुजारा। यहां का अस्पताल पच्चीस बीघे में फैला हुआ एक अलग ही तीर्थ था। मुख्य सड़क के एक तरफ यह अस्पताल था और दूसरी ओर कस्बा था। अक्सर उसमें आठ-दस इस तरह की चारपाइयां आती थीं जिन पर कोई-न-कोई घायल और लगभग मरणासन्न अवस्था में पहुंचा मरीज लाया जाता था। गांव की लड़ाइयां या तो पानी को लेकर होती थीं या जमीन के बंटवारे को लेकर। एक-दूसरे की फसलों की चोरी भी इसमें शामिल थी। इसलिए वहां के कुछ मेलों और रामलीलाओं जैसे उत्सवों में जाने के अलावा गांव मेरे लिए कभी आकर्षण का केंद्र नहीं रहा। फिर भी इधर की रचनाओं को पढ़कर लगता है कि उस समय जो छोटी-छोटी बातों को लेकर लूट निकल जाते थे वहां शायद अब वे समस्याएं उस रूप में नहीं रह गईं। जातिवाद तो वहां भी था ही।

यह सही है कि न अब वैसे गांव रह गए, न अब वैसे पात्र रह गए हैं। सब कुछ बदल गया है। लेकिन जो लोग सीधे गांव में ही बैठकर कहानियां लिख रहे हैं उनकी कहानियां मुझे ज्यादा प्रामाणिक लग रही हैं। महेश कटारे, पुन्नी सिंह, मैत्रेयी—विशेष रूप से 'चाक' में गांव की जो तस्वीर दी गई है वह असुरक्षा और भय पैदा करती है। कभी-कभी लगता है कि फॉर्मूला यहां भी हावी है।

आलोचना तो अक्सर ही प्राध्यापक लोग लिखते हैं और उनके लिए आधुनिक का मतलब रेणु और अज्ञेय हैं, इसलिए उनसे यह उम्मीद करना कि वे नए लोगों के बारे में पढ़ेंगे यह समय से आगे

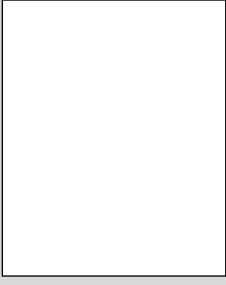
सोचना है। वे लोग पचास साल पीछे हैं। आज भी उनकी समस्याएं केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, मुक्तिबोध और बहुत हुआ तो नागार्जुन तक सिमट गई हैं। उन्हीं पर वे समीक्षा लिखते हैं और शोध करते-कराते हैं। उससे आगे वे नहीं जाते। दयनीय स्थिति यह है कि ग्राम्य-लेखन की आलोचना करते हुए एक भी समीक्षा पुस्तक मुझे नजर नहीं आ रही। नंगातलाई के गांव के लेखक विश्वनाथ जी कभी कुछ लिख देते हैं।

आज भी हमारी रग-रग में सामंतवाद बसा है। मध्यवर्ग का वर्चस्व बढ़ा है लेकिन सोच में काफी हद तक पुरातनता बनी हुई है। शायद भीतर से व्यक्तिवादी भी थे जो सामाजिकता के साथ जुड़ने की कोशिश करते हैं। इसीलिए व्यक्तित्व और रचना में बहुत गहरा फर्क दिखाई पड़ता है। शायद यह बाजार का ही दबाव था कि वह अपने मौलिक पक्ष को छोड़कर नकल करने लगता है। एकमात्र निर्मल वर्मा ऐसे लेखक हैं जिनकी लगभग नकल करते हुए दसियों लोगों ने लिखा लेकिन वे कुछ देर चमककर बुझ गए। बाजार के कई फायदे हैं। एक तो वह सामंतवाद और जातिवाद को तोड़ता है लेकिन साथ ही हर व्यक्ति को सिर्फ खरीदार के रूप में बदल देता है। सारा संबंध उत्पादन की बजाय उपभोग से बनता दिखाई देता है। छोटे-छोटे गांवों में शृंगार और उपभोग की सारी चीजें पहुंच गई हैं। नतीजे में सारे युवा या तो अपराधी हैं या फिर इस या उस राजनीतिक पार्टी के भाड़े के गुंडे, जो निहित स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने की चीज बना दिए गए हैं। इसलिए मुझे गांव कि तस्वीर बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई पड़ती है। लगता है जो बचा-खुचा है वह भी एक दिन खत्म हो जाएगा।

शिवमूर्ति में गजब का संपादन है एक-एक पंक्ति में वे जो बात कहते हैं वही दूसरे लोग एक पैराग्राफ में भी नहीं कह पाते। उनके पास बेहद सटीक और सार्थक भाषा और चुस्त शैली है इसलिए मुझे उनके कम लिखने से बहुत शिकायत है। वे चाहें तो अद्भुत लिख सकते हैं मगर औरों की तरह उन्होंने भी रिटायर हो जाने के बाद लिखने की मानसिकता बनाई है। उन्होंने नौकरी के दौरान हर रोज अपने लेखन को स्थगित किया है। यही आदत आज भी जारी है।

□

## अब्दुल बिस्मिल्लाह से पंकज की बातचीत



पंकज शर्मा

**पंकज शर्मा** : शिवमूर्ति जी आपके पुराने मित्र रहे हैं, साहित्यिक भी पारिवारिक भी। ऐसी क्या विशेषता थी जो आप दोनों मित्रों को करीब लाई?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : देखिए, जब भी दो व्यक्ति करीब होते हैं एक-दूसरे के, उसका बड़ा कारण यह होता है कि दोनों का स्वभाव मेल खाता हो। शिवमूर्ति से समीपता का कारण मैं मानता हूँ, हम दोनों के स्वभाव का मेल खाना और दोनों का एक-दूसरे के प्रति सहज होना। जब आरंभ में हम दोनों मिले, तभी यह अहसास मुझे भी हुआ और शायद उन्हें भी।

**पंकज शर्मा** : शिवमूर्ति जी से आप पहली बार कब और कहां मिले थे?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : (कुछ सोचकर) मैं समझता हूँ '80 के दशक में, शायद... शिमला में। लेकिन बाकायदा उनसे मेरी मुलाकात मऊ (जो पहले आजमगढ़ जिले में था) में हुई। उन दिनों शिवमूर्ति की पोस्टिंग वहीं थी। उस समय मैं बनारस में था और बनारस से मऊ नजदीक था। एक दिन मेरा मऊ जाना हुआ। उन्होंने मुझे अपने घर रोक लिया। एक रात मैं उनके यहां रुका। मुझे लगता है, बहुत-सी चीजें तय होती हैं जब आप किसी के साथ लंबे समय तक रहते हैं। हम दोनों के बीच जो भी बातचीत हुई, एक-दूसरे को देखा, जाना, सुना, परखा, उससे हमारी घनिष्ठता बढ़ती चली गई। और एक अजीब बात मुझे लगी जो प्रायः किसी बड़े अधिकारी में नहीं होती। जिस पद पर वे कार्यरत थे, जहां तमाम तरह की सुख-सुविधाएं, हर तरह की संपन्नता थी, उसके बावजूद उनके अंदर एक साधारणता थी। मैंने देखा, शिवमूर्ति के अंदर एक बहुत ही सहज और सामान्य व्यक्ति है। उनकी साधारणता की असाधारणता ने मुझे बहुत आकर्षित किया जिससे हम एक-दूसरे के निकट होते चले गए।

**पंकज शर्मा** : शिवमूर्ति जी का रचनाकार-व्यक्तित्व आपको कैसा लगा?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : देखिए, शिवमूर्ति के रचनाकार के संबंध में मैं जब सोचता हूँ तो कई बातें सामने आती हैं। एक तो जो हमारी पीढ़ी के लेखक रहे हैं, उनमें शिवमूर्ति ऐसे अकेले लेखक थे जिनकी कहानियां या जिनके पात्र धुर देहात के थे। यानी ऐसे पात्र, ऐसी जीवन-स्थितियां जो प्रेमचंद के यहां मिलती थीं। और प्रेमचंद के बाद कहानी का रूप बदला और धीरे-धीरे कस्बों-महानगरों में चली गई। लेकिन शिवमूर्ति के लेखन में गांव, गांव का दिल, गांव का हृदय, गांव का अंतर्मन और जो बदलता हुआ गांव है, उसकी समस्याएं और विविधताएं, वहां की जटिलताएं सब शिवमूर्ति के गांव में हैं, चाहे वो 'कसाईबाड़ा' हो या 'तिरिया चरित्त' हो। शिवमूर्ति के गांव में यह सब दिखाई पड़ती हैं।

जब हम सब ने लिखना-पढ़ना शुरू किया तो प्रेमचंद से बहुत प्रभावित थे। जाहिर है शिवमूर्ति ने प्रेमचंद को गहराई से पढ़ा और सिर्फ पढ़ा ही नहीं बल्कि महसूस भी किया। और उसे अपने अनुभव में ढाला। और वह एक बार फिर आया शिवमूर्ति के लेखन में। प्रेमचंद के लेखन ने शिवमूर्ति को बहुत प्रभावित किया और मैं मानता हूँ कि ये उनकी बड़ी शक्ति है।

**पंकज शर्मा** : उन दिनों जब शिवमूर्ति ने लिखना प्रारंभ किया था, तब प्रायः सभी लेखक किसी न किसी खास संगठन से जुड़े हुए थे। लेकिन उनके यहां किसी खास

तरह की विचारधारा देखने को नहीं मिलती?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : शिवमूर्ति भले ही किसी खास संगठन से न जुड़े हों, लेकिन उनकी कहानियों और लेखन में विचारधारा सुस्पष्ट है। आप उन्हें पढ़िए। उनकी कहानियों में या उनके लेखन में एक विशेष प्रकार का कथा-रस है जो आपको बांधे रखता है। शिवमूर्ति की रचनाओं से यह साबित होता है कि किसी संगठन विशेष से न जुड़कर भी विचारवान या विचारयुक्त लेखक बनना संभव है। शिवमूर्ति एक विचारवान लेखक के रूप में सामने आते हैं।

**पंकज शर्मा** : व्यक्तिगत स्तर पर उनकी कौन-सी रचना आपको सबसे अधिक पसंद है?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : एक छोटी-सी कहानी है 'सिरी उपमा जोग'। ये बहुत अच्छी कहानी है जो मुझे बेहद पसंद है। इसमें एक बहुत बड़ा अधिकारी है जो गांव की पत्नी को छोड़कर शहर में दूसरा परिवार बसा लेता है। यह बड़ी मार्मिक कहानी है। मुझे एक घटना याद आती है। एक बार हम शिमला गए थे। वहां हम लोगों का कहानी-पाठ था। मुझे याद नहीं कि मैंने कौन-सी कहानी का पाठ किया था मगर शिवमूर्ति ने वही कहानी पढ़ी। और वो उस कहानी को पूरी तरह पढ़ नहीं पाए थे। बीच में ही वे लगभग रो पड़े थे। उनकी बची हुई कहानी, जहां तक वो पढ़ चुके थे उसके बाद की कहानी, वहीं के किसी लेखक ने पढ़ी...।

**पंकज शर्मा** : किसानों की आत्महत्या के संदर्भ में 'आखिरी छलांग' अभी तक मजबूत छलांग नहीं बन पाई है। आपका अभिमत?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : एक बार चित्रकूट में नामवर जी ने बहुत अच्छी बात कही थी कि यह जरूरी नहीं कि कोई घटना जिस पर कहानी लिखी जाय, वो बड़ी हो। किसानों की आत्महत्या एक बहुत बड़ा फैनोमिना है या बहुत बड़ी विडंबना है जो हमारे देश का बहुत दुखद पहलू है। इन घटनाओं पर आधारित कोई बड़ी रचना देखने में नहीं आई। जाहिर है, ये लेखकीय सीमा है लेकिन किसी लेखक ने इसे उठाया और कुछ हद तक

संभाला-सहेजा अपनी रचना के माध्यम से, तो इतना पर्याप्त है।

**पंकज शर्मा** : सांप्रदायिकता पर अनेक कहानियां लिखी गई हैं, उनके बीच 'त्रिशूल' उपन्यास की प्रासंगिकता क्या है?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : एक जमाना था, जब सांप्रदायिक दंगों पर, बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद बहुत सारी हिंदी कहानियां आईं। तात्कालिक घटनाओं पर बहुत सारी रचनाएं प्रकाश में आती हैं। उन्हें उस समय तो बहुत याद किया जाता है, पर बाद में प्रायः भुला दिया जाता है। कम ही ऐसी होती हैं जो बाद तक याद की जाती हैं। शिवमूर्ति जो पात्र गढ़ते हैं, अपनी कल्पना और अपने यथार्थ के मिश्रण से—वह बहुत गहराई तक उद्देलित करता है। इसी कारण शिवमूर्ति के 'त्रिशूल' का महत्व आज भी है और भविष्य में भी रहेगा।

**पंकज शर्मा** : 'तिरिया चरित्तर', 'तर्पण', 'भतरनाट्यम' के अद्भुत ग्राम्य कथाकार शिवमूर्ति कहां हैं? क्या आपको नहीं लगता कि अखबारों में उनकी गुमशुदगी का विज्ञापन देना चाहिए?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : देखिए, ऐसा है कि बहुत-से रचनाकार हैं जिन्होंने बहुत लिखा और जीवनपर्यंत लिखते रहे, आरंभ से लेकर अंत तक लिखते रहे। और पता यह चला कि ऐसा उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा जो बहुत महत्वपूर्ण हो। कुछ लेखक ऐसे हैं जिन्होंने कम लिखा है, फिर भी ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण लिखा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण आपके सामने गुलेरी जी का है। बीच की पीढ़ी जो नई कहानी की है, उसमें अमरकांत जी को देख लीजिए, हालांकि वे निरंतर लिखते रहे हैं।

शिवमूर्ति का कभी शौक नहीं रहा कि वे अखबारों में छपें, या हमेशा मीडिया में बने रहें, या उनके बारे में कुछ न कुछ आता रहे। ऐसी प्रकृति उनमें कभी नहीं दिखी। जिस प्रकार वे जीवन में सहज हैं, उसी प्रकार उनका लेखन भी बहुत सहज है। उन्होंने बहुत कम लिखा, हम सभी जानते हैं। पर जो कुछ भी लिखा, वह बहुत महत्वपूर्ण है। इतना कम लिखकर भी जो अवदान उन्होंने हिंदी साहित्य को दिया, वह पर्याप्त है।

## तर्पण

**बच्चा** जैसे खिलौना पाकर प्रसन्न होता है, सत्ता चाहती है कि सामाजिक न्याय के सरकारी फलसफे से दलित जैसे ही प्रसन्न रहें। बच्चा खिलौने को कभी न छोड़े, इनके लिए जरूरी है कि वह बड़ा ही न हो। दलित सामाजिक न्याय के सरकारी फलसफे में रमे रहें, जरूरी है कि उनकी चेतना को सीमित रखा जाए। इसके लिए दलितों के हित में बने कानून हैं, लोकतंत्र है। दलित-पक्षधरता की डींग हांकने वाले कानून और लोकतंत्र दलितों को कैसे पीसते हैं, कैसे उनके साथ आशा-निराशा का चूहे-विल्ली वाला खेल खेलते हैं—इसका दस्तावेजी साक्ष्य है 'तर्पण'।

—प्रियम अंकित

(नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008 से साभार)

**पंकज शर्मा** : उनके साथ बिताया कोई ऐसा क्षण, जो आपको हमेशा याद रहेगा?

**अब्दुल बिस्मिल्लाह** : एक बड़ी दिलचस्प घटना है। एक बार शिवमूर्ति दिल्ली आए। तब मैं भी दिल्ली नया-नया आया था। उन्होंने कहा—मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं हवाई जहाज में बैठूं। मैंने पूछा—कहां जाना है? उन्होंने कहा कि कहीं भी चलो, सिर्फ हवाई जहाज में बैठना है।

हमने दो स्थान चुने—एक कश्मीर, दूसरा खजुराहो। कश्मीर का टिकट मिल गया। सामने अखबार था। फ्रंट पेज पर न्यूज थी एयर-क्रेश की। उन्होंने कहा—नहीं जाएंगे। वापस लौट चलिए।

आखिर हमने हवाई यात्रा नहीं की। दूसरी घटना। मुझे कुछ पैसों की जरूरत थी। मैंने उन्हें पत्र लिखा, पर उनका कोई जवाब नहीं आया। एक दिन वे स्वयं आए। फिल्मी अंदाज में अपना सूटकेस खोला और कहा—लो पार्टनर, जितना जरूरत हो, रख लो।

एक ताजा घटना गोवा की है, जहां उनके परिवार की बच्चियों के चलते मुझे आश्रय मिला। मेरी पारिवारिक मैत्री का रंग इतना गहरा था।

□

जनवरी-मार्च 2011

# मंच और प्रमंच



## ‘त्रिशूल’ पर तूफानी गोष्ठी



### कमल पांडेय

जन्म : अगस्त 1975।

स्थान : उत्तर प्रदेश के चित्रकूट जनपद के छीबो गांव में।

शिक्षा : स्नातक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

टेलिविजन साहित्य धारावाहिकों के लिए कथा-पटकथा और संवाद लेखन।

आंच, शक्ति द पॉवर, शागिर्द, मिलन टॉकिंग और निर्माणाधीन फिल्मों के लिए कथा-पटकथा और संवाद लेखन।

सम्मान : लाडो और देवी के लिए सर्वश्रेष्ठ कथा और पटकथा के कई पुरस्कार।

संपर्क : 9819649405

विगत 19 दिसंबर को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रसंघ भवन के विशाल हॉल में बहुचर्चित कथाकार शिवमूर्ति के लघु उपन्यास ‘त्रिशूल’ पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। यह पहला अवसर था जब इलाहाबाद के सारे प्रमुख साहित्यकार, बुद्धिजीवी और गंभीर पाठक की हैसियत से विश्वविद्यालय के कई शोध-छात्र एक जगह इकट्ठे हुए।

गोष्ठी में जहां भैरव प्रसाद गुप्त जी अध्यक्ष तथा अमरकांत मुख्य अतिथि की हैसियत से आए, वहीं प्रख्यात साहित्यकार, शेखर जोशी, रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह, ममता कालिया, नीलाभ, हरीशचंद्र अग्रवाल व एहतराम इस्लाम सहित कई वरिष्ठ लोगों ने गोष्ठी में भाग लिया।

गोष्ठी का प्रारंभ कमल लोचन पांडेय ने कहानी का सार संक्षेप प्रस्तुत करके किया। गोष्ठी का संचालन करते हुए डॉ. नरेंद्र कुमार ने पहले वक्ता के रूप में दूधनाथ सिंह को आमंत्रित किया। दूधनाथ सिंह ने कहा, “त्रिशूल कहानी या उपन्यास है, इस पर मुझे संदेह है। यह कहानी गलत विचारधारा के तहत लिखी गई है और पूरी तरह से जातियुद्ध की वकालत करती है।” उन्होंने ‘हंस’ के संपादक राजेंद्र यादव पर भी तीखी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। उन्होंने कहा कि राजेंद्र यादव ‘हंस’ के माध्यम से जातियुद्ध का आह्वान कर रहे हैं। अपने डेढ़ घंटे के वक्तव्य के दौरान वे बार-बार ‘हंस’ और उसके संपादक को पटकते रहे।

विनोद तिवारी ने कहा कि ‘त्रिशूल’ सांप्रदायिकता की कहानी नहीं है। कहानी में जातीय संघर्ष के आह्वान का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि रास्ता जातीय उन्माद फैलाकर नहीं निकाला जा सकता। एक समृद्ध सृजन के रास्ते की तरफ कोई लेखक नहीं जाता, इस बात पर उन्होंने दुख व्यक्त किया।

रवींद्र कालिया ने पूर्व वक्ताओं की बात का खंडन करते हुए कहा कि निःसंदेह यह एक अविस्मरणीय कहानी है। जो लोग इस कहानी में जातियुद्ध का आह्वान देख रहे हैं, वे सवर्ण मानसिकता से ग्रस्त हैं। उन्होंने लेखक के कला-कौशल और हिम्मत के लिए दाद दी। उन्होंने कहा कि अगर प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में जाति का वर्णन नहीं किया तो इसके लिए शिवमूर्ति जिम्मेदार नहीं हैं।

ममता कालिया ने ‘त्रिशूल’ को एक यादगार कहानी बताते हुए कहा, “मुझे तो पाले की हत्या में सफदर हाशमी की हत्या दिखाई पड़ती है। यह कहानी समाज के सड़े-गले कूड़े के ढेर पर से रेशमी रूमाल हटाती है।”

गोष्ठी ने आयोजक कथाकार हरीशचंद्र अग्रवाल ने कहा, ‘टॉलस्टॉय ने कम्प्यूनिज्म को कभी इंडोर्स नहीं किया, लेकिन लेनिन का यह कहना था, कि टॉलस्टॉय कम्प्यूनिज्म के सबसे बड़े लेखक हैं। मैं शिवमूर्ति को इसी स्थिति में पाता हूं। यह कहानी बाहर से प्रतिबद्ध नहीं है, लेकिन आम जनता के संघर्ष और उसकी विचारधारा को उसी के शब्दों में व्यक्त करने का यह प्रयास अद्वितीय है।”

गोष्ठी के सह-आयोजक विनोद शुक्ल को व्यवस्था में लगे देखकर नीलाभ ने

मजाक किया, “अरे! (गोष्ठी से ज्यादा अब) अपने भविष्य के बारे में सोचो ब्राह्मण देवता!”

“क्यों?” विनोद जी ने पूछा।

“क्यों क्या! सुना नहीं यू. पी. असेंबली की 16 तारीख की घटना।”

“तो आप भी तो वही हैं पंडिज्जी!”

“ठीक कह रहे हो! मैं तो पंडिज्जी हूँ, लेकिन तुम ब्राह्मण हो, चिंता तुम्हें करनी है।” नीलाभ ने मुस्कराते हुए कहा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्रो. ए. ए. फातमी इस कहानी के विरोध से बेहद आहत नजर आए। ‘त्रिशूल’ को मानक कहानी मानते हुए उन्होंने इतने खुले रूप में सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण के लिए शिवमूर्ति को बधाई दी।

श्री काजमी ने कहा, “महमूद जाने की बात मत करें। जाएगा तो कहां जाएगा।” तभी किसी ने पीछे से भट्टी टिप्पणी की, “पाकिस्तान जाएगा और कहां जाएगा।”

सुरेश कुमार ‘शेष’ ने ‘त्रिशूल’ को हिंदी कहानी की अमूल्य निधि मानते हुए इसे बेजोड़ कहानी बताया। समाजकर्मी गंभीर पाठक बड़े लाल ने ‘त्रिशूल’ को दलित लेखक से जोड़ते हुए शिवमूर्ति को हिंदी का पहला दलित लेखक माना।

गोष्ठी के मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए प्रख्यात साहित्यकार अमरकांत ने कहा, “जब समाज में जातिवाद है तो जातियों का संघर्ष कहानी में क्यों नहीं आएगा? दूधनाथ का यह कथन एकदम गलत है कि प्रेमचंद ने जातिवाद पर नहीं लिखा।” उन्होंने प्रेमचंद की ‘मुक्ति’ और ‘सद्गति’ कहानियों के उदाहरण दिए। उन्होंने कहा कि अगर प्रेमचंद की परंपरा

## संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में ग्रामीण भारत

(मां न मुझसे प्रसन्न रहती है न बहू से। उसकी बहू न उससे प्रसन्न रहती है न मुझसे। मैं प्रसन्न नहीं रह पाता, न मां से, न बहू से। अब बताइए राजाजी, इसमें किसका है कसूर!)

आयाते दयिते मरुस्थल युवामुल्लंघ्य दुर्लभ्यतां  
गोहिन्या परितोष वाष्प तरला मासज्य दृष्टि मुखे  
दत्त्वा पीतुशमी करीर कवलाम स्वेनांचले नादरा  
दामृष्टं करमस्य केशरसटामारावलानं रगः।

—केशट

(कितने बीहड़ रेगिस्तान पार कर घरवाला लौट आया है फिर आज घर। घर की मालकिन सुख में भीगी आंखों से उसका मुख निहारकर झट से पीलू छेंगुर और करीर के कौर बनाकर दुलारती हुई खिलाने लगी है उसके ऊंट को, फिर अपने आंचल से रह-रह कर आदर देकर पोंछ रही है वह ऊंट के रोओं में चिपकी धूल।)

ब्रीहिः स्तम्बकरिः प्रभूत पयसः प्रत्यागता धेनवः  
प्रत्यज्जीवति भक्षणा मृशमिति ध्यायन्ने देतानिधिः  
सान्द्रोशीर कुटुम्बिनी स्तन भरत्या लुप्त धर्म कल्पो  
देवे नीरमुदार मुज्जसति सुखं शेते निशा ग्रामणीः।

—योगेश्वर

(गुच्छे-गुच्छे बढ़कर घने हो रहे हैं खेत में पौधे धान के। लौट आई हैं सांध्य बेला में दुधारू गायें सबकी सब। हो चुका है उनका भी चारा-पानी। और कुछ सोचने को नहीं रहा अब। गाढ़े खस के लेप से सुवासित स्तनों वाली अपनी घरवाली की देह से सटाकर देह दिन-भर घाम में किए काम की थकान उतारता भीतर सुख से सोता है सारी रात गांव का पटेल, देव जब बरस रहे हों उदार होकर बाहर।)

से उभरकर ये लेखक आ रहे हैं तो आप इतनी छाती क्यों पीटते हैं।

शेखर जोशी गोष्ठी के तत्कालीन माहौल से निरपेक्ष रहे। उन्होंने कहा कि एक बहुत ही संभावनाशील कहानी संपादक की लापरवाही से बनते-बनते रह गई। यह संपादक का दायित्व था कि कहानी के अवांतर प्रसंगों को हटाकर उसे ऊंचाई देने का निर्देश वे लेखक को देते।

अपने अध्यक्षीय भाषण में भैरव प्रसाद गुप्त ने कहा कि ‘त्रिशूल’ कहानी नहीं है, क्योंकि कहानी एक बूंद होती है।

यह उपन्यास भी नहीं है, क्योंकि उपन्यास में चरित्र अपनी पूर्णता के साथ आते हैं, जो इसमें संभव नहीं हो सका। उन्होंने कहा कि यह कहानी वाचक और शास्त्री जी की है, महमूद की नहीं। उन्होंने कहा कि निश्चय ही ‘त्रिशूल’ संघ परिवार के विरुद्ध है।

भैरव प्रसाद जी का अध्यक्षीय भाषण चल रहा था कि तभी किसी ने बिजली काट दी। लेकिन भैरव प्रसाद जी भाषण जारी किए रहे और स्कूटर की हेडलाइट जलाकर उजाला किया गया।

बाहर अंधेरे में एक सज्जन जो समयाभाव के कारण बोल नहीं सके थे, कहानी की बारीक आलोचना कर रहे थे। दूसरे ने चुटकी ली, “गुरु! कहानी तो तुमने पढ़ी नहीं, इतनी बारीक बातें कहां से पा गए?” तब उन्होंने कहा कि सबसे जोरदार ढंग से वही बोल सकता है, जो बिना कहानी पढ़े ही बोले। पढ़ लेने पर तो बोलने का दायरा सीमित हो जाता है।

गोष्ठी समाप्त होने के बाद भी बहुत सारे लोग जो समयाभाव के कारण बोल नहीं पाए थे, लेखक के पास आ-आ कर अपनी भावनाएं व्यक्त कर रहे थे। एहताराम इस्लाम ने तो शिवमूर्ति जी से कहानी का उर्दू

में अनुवाद करने की अनुमति भी मांगी।

पूरे चार घंटे तक चली यह गोष्ठी ‘त्रिशूल’ कहानी पर सार्थक बहस के साथ समाप्त हुई।

(साप्ताहिक ‘गंगा-जमुना’, 2-8 जनवरी 1994, इलाहाबाद में प्रकाशित)

□

# मंच के पाये



## पंजाबी की स्थिति हिंदी से भिन्न है



महीप सिंह

हिंदी में जैसी स्थिति है वैसी पंजाबी में नहीं है। पंजाबी साहित्य में शहर बहुत सीमित मात्रा में उभरा। और देर से उभरा यहां दिल्ली या मुंबई जैसा कोई महानगर नहीं है। केवल अब लुधियाना है जो थोड़ा बड़ा शहर बना है। यहां अमूमन कस्बे या बहुत छोटे शहर हैं। और उनका उस रूप में दबाव नहीं है जैसा दिल्ली या मुंबई का है...दूसरे यह कि पंजाबी के उपन्यास लगभग पूरी तरह गांव की पृष्ठभूमि पर आधारित रहे हैं। पंजाबी के सबसे वरिष्ठ लेखक जसवंत सिंह कंवल हैं। उनके लगभग सारे उपन्यास ग्रामीण पृष्ठभूमि पर हैं और वहां जो चिंतन है, जो सामाजिक उथल-पुथल है उसे उन्होंने अपनी रचनाओं का केंद्र बनाया। दूसरे सबसे बड़े लेखक गुरदयाल सिंह हैं। उनके भी सभी उपन्यास गांव पर हैं। उन्होंने जात किसानों और दलित किसानों के बीच के अंतर्विरोध को दिखाया है।

पंजाब में हिंदी के सबसे बड़े लेखक थे जगदीश चंद्र। वे ग्रामीण लेखक थे और अपने लेखन में दलितों की स्थिति और जातों से उनका संघर्ष दिखाते हैं। पंजाबी ग्रामीण जीवन की एक विशेषता यह रही है कि वहां उत्तर प्रदेश या बिहार जैसे जमींदार और किसान का विभाजन नहीं रहा है। वहां जिसके पास जमीन है वह जमींदार कहा जाता है। खेतिहर मजदूर शब्द प्रवासियों के साथ आया। यानी जब दूसरे राज्यों से मजदूर आने लगे। जाहिर है कि ऐसे में बहुत तीखा संघर्ष दोनों के बीच नहीं रहा है कि उसे केंद्र बनाकर कोई उपन्यास लिखा जाता क्योंकि प्रवासी एक तो दूसरे राज्यों से आया, इसलिए वह उग्र नहीं हो सकता था।

दूसरे, एक सबसे दिलचस्प बात यह है कि पंजाब का युवक तो विदेश में बसने की ललक को पूरा करने के लिए कुछ भी करने को तैयार है। अब खेती कौन करे? ऐसे में प्रवासी मजदूरों का ही एकमात्र सहारा बचता है। तस्वीर यह बनती है कि जमींदारों और मजदूरों के बीच एक समझौता और समझदारी बन गई है। बिहार से जब ट्रेनों में जिन्हें अक्सर भैया एक्सप्रेस कहा जाता है, भरकर मजदूर पंजाब पहुंचते हैं तो जमींदार स्टेशन पर उन्हें रिसेव करने आते हैं ताकि ज्यादा-से-ज्यादा मजदूर वे अपने साथ ले जा सकें...इस प्रकार वहां के परिदृश्य में यह आम बात हो गई है। और ग्रामीण लेखन भी इसीलिए वहां लगातार न केवल जीवित रहा बल्कि उसमें बड़े-बड़े लेखक आज भी हैं।

पंजाबी में नागर जीवन के उपन्यास बहुत कम हैं। जो पंजाबी के सबसे बड़े उपन्यासकार हैं नानक सिंह, वे प्रेमचंद से बहुत प्रभावित थे इसलिए उनके यहां नागर जीवन दिखाई देता है। हिंदी में इसके उलट है। यहां ग्रामीण पृष्ठभूमि के जो लेखक थे वे शहर में आने के बाद नगरीय जीवन के होकर रह गए। उन्होंने गांव से ज्यादा शहर की कहानियों पर ध्यान दिया। बहुत वरिष्ठ कहानीकार विवेकी राय गांव में ही रहकर लिखते रहे और उनके सारे उपन्यास गांव-केंद्रित रहे हैं। रामदरश मिश्र गांव से आए। उन्होंने अच्छे उपन्यास लिखे। लेकिन शहर में रहने पर उनके अनुभव गांव के कम होते गए। अब जब वे लिखेंगे तो जाहिर है नास्टेल्लिया ही लिखेंगे।

संपर्क : एच-118, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, दिल्ली

अनुभव की दृष्टि से हर लेखक शहर की ओर मुड़ा है। लेकिन अभिव्यक्ति में—कथा-साहित्य की अभिव्यक्ति में—यह हिंदी प्रदेश की सच्चाई है।

पंजाब में दूसरी स्थितियां हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की अपेक्षा यहां अलग माहौल है। यहां दलितों के साथ वैसा दुर्व्यवहार नहीं है। न पहले था, न आज है और न रहेगा ही। पंजाबी लेखक इन बातों से अच्छी तरह वाकिफ है इसलिए वह नास्टेल्लिया का उस कदर रचयिता नहीं है जैसे हिंदी लेखक। नास्टेल्लिया बाहर गए पंजाबी लेखकों में हो सकती है लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है। इसके पीछे की भौतिक परिस्थितियां काबिल-ए-

है।

आज जब हिंदी में गांव पर लिखी जा रही रचनाओं पर बात करें तो बहुत खराब परिणाम सामने आता है। सारा का सारा हिंदी लेखन धीरे-धीरे शहर-केंद्रित होता चला गया और लोगों ने इसको लिखना बंद ही कर दिया कि वास्तव में हालत क्या है? कैसे बदलाव आ रहे हैं और कौन-सी नई चीज आई है। पहली बात तो यही कि अपने लेखन में सबसे ज्यादा तो वे स्वयं मौजूद हैं। उनका निजी दुःख ही इतना बड़ा है कि बाकी लोगों के जीवन का कोई अक्स मुश्किल से उभरता है।

रामदरश जी को ही ले लीजिए तो

**ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक चित्र है शिवमूर्ति के यहां। तीस वर्ष का यह रचना-संसार ग्रामीण समाज की एक मुकम्मल दास्तान है। उनके पात्र संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं। संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं।**

गौर हैं—पंजाब में बाहर से आने वाला धन देश में सबसे ज्यादा है। इसलिए वहां का सामाजिक जीवन जाटों और दलितों के बीच बंट जाता है। जाट यानी परंपरागत रूप से जमीन का मालिक। दलितों को पहले सिरिं कहा जाता था और वे भी लगभग परिवार के सदस्य जैसे ही थे। छुआछूत नहीं था...अब उनमें भी शिक्षा आई और वे शहरों में आए। जीवन-स्तर सुधरा तो दृष्टिकोण भी बदला। इन स्थितियों की वजह से ग्राम्य कथा में कुछ तब्दीलियां अवश्य आई हैं। मसलन पहले का खत्री-वर्चस्व टूटा है। धीरे-धीरे जाटों का वर्चस्व बढ़ा है। हर क्षेत्र में, यहां तक कि लेखन में भी चूंकि इनमें से अधिकतर गांव और खेती से ही जुड़ा रहा है इसलिए यहां तात्कालिकता और समकालीनता में एक अंतर्संबंध पाया जाता है। स्थितियों के ही कारण यहां साहूकार और होरी का संबंध नहीं दिखता। हिंदी कथा लेखन के बरक्स पंजाबी कथा लेखन अधिक तरोताजा है और उसका समय बदलते हुए भी वर्तमान

उनमें नास्टेल्लिया है क्योंकि शहर में रहकर गांव से संबंध बिल्कुल टूट गया। कभी-कभार शादी-ब्याह पर जाना दूसरी बात है। इसलिए उनके कथा-लेखन से गांव धीरे-धीरे बाहर होता गया...महेश कटारे या पुन्नी सिंह गांव में रहते हैं बल्कि कहना चाहिए कि छोटे शहरों में रहते हैं लेकिन मुझे नहीं लगता कि उनमें गांवपन बाकी रह गया है। वे प्रायः कस्बों की कहानियां कहते हैं। संजीव जरूर बंगाल में रहते हुए आसपास के इलाकों के गांव कस्बों से जुड़े रहे। 'आरोहण' जैसी कहानी गांव के नजरिए से पलायन और ग्रामीण जिजीविषा को देखती है। उनकी दर्जनों कहानियों में यह भावबोध है। हालांकि आदर्शवाद भी बहुत है लेकिन जो आग्रह है वह गांव के जीवन के सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों दोनों को दिखाने का है। शिवमूर्ति ने भी कहानियां बहुत अच्छी लिखीं। वे मुझे बराबर आकर्षित करती रहती हैं। मुझे लगता है कस्बाई और छोटे शहर से, गांव से आकर महानगर में बस जाने वाला

लेखक जितना हिंदी भाषा में है उतना किसी और भाषा में नहीं। निश्चित रूप से इसके आर्थिक और राजनीतिक कारण भी हैं परंतु लेखक मजबूत नहीं हुआ।

मुझे एक वाक्या याद है कि जब रामधारी सिंह दिनकर राज्यसभा में नहीं रहे और उन्हें गांव जाने की नौबत आई तो कहने लगे कि क्या जाऊं, वहां तो मच्छर ही इतने हैं कि खा जाएंगे। तो यह एक सामान्य-सी स्थिति है।

पंजाब में असमान विकास नहीं हुआ। महानगर नहीं बने लेकिन हर कस्बा अपने आप में शहर बनता गया। गांव में बिजली और सड़क जैसी बुनियादी सुविधाएं पहुंच गईं। मोगा, कपूरथला और खन्ना जैसे आज के शहर हाल-हाल तक गांव या ज्यादा-से-ज्यादा कस्बे ही थे। लेकिन शहर बन जाने से उनकी संस्कृति में विशेष फर्क नहीं आया। गांवपन वहां का स्वाभाविक चरित्र है और बदलती स्थितियों में भी वे वास्तविकता से दूर नहीं हैं। एक उदाहरण के तौर पर पंजाबी के इस समय के सबसे नामी कथाकार गुरदयाल सिंह को ले सकते हैं जो जैतों जैसे बहुत छोटे कस्बे में रहते हैं। जैतों मंडी कहा जाता है। वहां उनके रहने से ज्ञानपीठ मार्ग बन गया। क्या हिंदी के लेखक आज गांव से इसी रूप में जुड़े हैं?

आलोचना में भी गांव की पृष्ठभूमि के आलोचक कितने हैं? कुछेक नाम के अलावा समग्र हिंदी कहानी को लेकर बात की जाए तो बहुत नहीं दीखता। वैसे भी हिंदी के आलोचक बड़े सीमित और संकुचित रहे हैं। वे बस अपने आसपास के लोगों या रिश्तेदारों, मित्रों की चर्चा करते रहे। उन्हीं को उछालते रहे। रेणु ने जैसी कहानियां लिखीं और जिस अंचल के अनुभव को वे ले आए उसको लेकर बहुत चर्चा नहीं हुई। शैलेश मटियानी पर्वतीय जीवन के बहुत सशक्त रचनाकार थे लेकिन उन्हें पूरी तरह भुला दिया गया। बटरोही ने इतना अच्छा लिखा—अनाथ मोहल्ले के ठुल...लेकिन आज उनका नाम ही गायब हो गया है। क्षितिज शर्मा ने लगातार पहाड़ के गांव पर लिखा लेकिन लगातार इन्नोर किए



### तर्पण

‘तर्पण’ दलित चेतना के राजनीतिक उभार की विसंगतियों को उजागर करने वाली रचना है। धरमू पंडित का बेटा चंदर हरिजन पियारे की बिटिया रजपति का बलात्कार करना चाहता है। रजपति की चीख सुनकर पास में काम कर रही कुछ दलित औरतें आ जाती हैं और चंदर अपने मंसूबों में असफल होकर भागता है। गांव में ठाकुरों-ब्राह्मणों का जोर है। चमरौही में कुछ थोड़े से ही घर हैं। इन सबको सवर्णों के अत्याचार का शिकार होना पड़ा है। खुद रजपति की बड़ी बहन उनके उत्पीड़न का शिकार बनकर कुएं में कूदकर जान दे चुकी है। विक्रम की बुआ को, गौने के दस-बारह दिन पहले ठाकुरों के बेटे दिन-दहाड़े गन्ने के खेत में ले जाकर बलात्कार कर चुके हैं। उस वक्त कोई कुछ नहीं कर पाया था। तब गांव में दलित मुक्ति की चेतना का प्रसार नहीं हुआ था। मगर अब इन घटनाओं को अर्सा बीत चुका है। बड़ी मुश्किल से दलित नेता भाई जी ने उनको मुक्ति का रास्ता दिखाया है। बदले की चिनगारियां उनके दिलों में पहले भी सुलग रही थीं, मगर संघर्ष की चेतना ने अब उनके अंदर सामना करने का साहस उत्पन्न किया है। पियारे, चंदर की हरकत से अपमान का घूंट पीकर रह जाता है। वह व्यक्तिगत रूप से पुलिस-कचहरी के चक्कर में नहीं फंसना चाहता। मगर सामूहिकता के दबाव में उसे पुलिस में बढ़ा-चढ़ाकर रिपोर्ट लिखाने की बात माननी पड़ती है। इस सामूहिकता के पीछे सामंत विरोधी क्षोभ है। इस क्षोभ ने ही दलित चेतना को धार दी है। इसी चेतना ने उनके प्रतिनिधियों को संसद तक, विधानसभाओं तक पहुंचाया। उनकी सरकारें बनवाईं। मगर सवाल यह है कि क्या संसद या विधानसभा तब पहुंचने से, सत्ता की कुर्सी पर बैठने मात्र से ही दलित-मुक्ति संभव है? ‘तर्पण’ इसी सवाल से जूझता है।

—प्रियम अंकित

(नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008 से साभार)

**ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक चित्र है शिवमूर्ति के यहां। तीस वर्ष का यह रचना-संसार  
ग्रामीण समाज की एक मुकम्मल दारस्तान है। उनके मात्र संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका  
अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं। संघर्षशील हैं। यह  
संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं।**

जाते रहे। कुछ लोग तो बजपत्ता गुट बनाकर दूसरों को खारिज करने की मुहिम चलाते हैं। ऐसे में यह कहना भी सही है कि कथा आलोचना ने गांव के लेखन को पीछे धकेला है।

बाजार की भूमिका हिंदी लेखन और दूसरे अभिव्यक्ति माध्यमों पर बढ़ी है। यह बहुत नई बात नहीं है। दूसरी भाषा

खासकर पंजाबी के मुकाबले हिंदी में व्यावसायिक कथा पत्रिकाओं का एक दौर रहा है। पत्रिकाओं से मिलने वाले पारिश्रमिक ने लेखकों में व्यावसायिकता की ललक और लालच को बांध दिया।

साप्ताहिक हिंदुस्तान और धर्मयुग जैसी पत्रिकाओं ने अच्छा पारिश्रमिक दिया। लेखक को प्रसिद्धि और पैसा दोनों

मिला तो साहित्य पर काबिज होने के लिए गुट और त्रिमूर्तियों बनीं। इसलिए मुझे लगता है हिंदी कथा में आंदोलन ज्यादातर शिल्प और शैली के आंदोलन थे। यथार्थ में आंदोलन नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि लेखन पीछे छूट गया और जीवन आगे चला गया। उसे पकड़ना एक बड़ी चुनौती बन गई जिसमें बहुत कम लोग सफल हो पाए...हिंदी का तो यह परिदृश्य है लेकिन पंजाबी में ऐसा नहीं है। वहां लेखन से कभी ज्यादा पैसा नहीं मिला, वरियाम सिंह संधू, जसवंत सिंह विर्दी या रामसरूप अणखी जैसे लोग लिख अच्छा रहे थे लेकिन उनकी संपन्नता लेखन के कारण नहीं थी। जमीनों के कारण थी। जमीनों की कीमतें बढ़ गईं, तब पैसा आ गया। पंजाबी युवक तो विदेश जाने के लिए लाखों रुपये खर्च करने को तैयार है। यही हाल लेखकों का भी था कि वे लेखनेतर वजहों से पैसा कमाते थे और उनका लिविंग स्टैंडर्ड हिंदी के लेखकों के मुकाबले अच्छा रहा है।

हिंदी के ज्यादातर लेखक निम्न मध्यवर्ग से आते हैं इसलिए लेखन भी उनके लिए कमाने का एक औजार है। अगर किसी ने अच्छा लिखा तो उसे पूरी तरह भुनाएगा। इसके सबसे बड़े उदाहरण नामवर सिंह हैं जो प्रोफेसर जैसे सम्मानपूर्ण काम से सेवा-निवृत्त होने के बाद और शिखर आलोचक का तमगा पाने के बावजूद ‘सहारा समय’ में नौकरी करने गए। उन्हें पैसों की क्या जरूरत थी। बढ़िया पेंशन मिलती है लेकिन यह एक संस्कार है कि ज्यादा-से-ज्यादा दूह लो...यही हाल बाकी लोगों का भी है। इसके बरक्स पंजाबी पत्रिकाओं से तो पचास रुपये भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। फिर भी लेखन के प्रति एक कमिटमेंट है।..

□

## पूर्वोत्तर में सृजन की धुरी



### भरत प्रसाद

उत्तर प्रदेश के गांव हरपुर (संत वीर नगर) में 25 जनवरी, 1970 को जन्म।

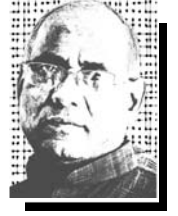
कथादेश, आलोचना, नया ज्ञानोदय, वर्तमान साहित्य, वागर्थ, कथन, समयांतर आदि पत्रिकाओं में रचनाओं का निरंतर प्रकाशन।

संपर्क : सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग  
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय  
शिलांग-793022 (मेघालय)  
मो. 9863076138

भारतवर्ष का पूर्वोत्तर आज भी देशवासियों की निगाहों में अपना समुचित स्थान पाने के लिए व्यग्र है, आकुल-व्याकुल है। सात बहनों के नाम से संबोधित होने वाले यहां के सात प्रदेश पूर्वोत्तर की बीहड़, दुर्गम, आदिम खूबसूरती का मायाजाल बुनते हैं। असम मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, सिक्किम और नगालैण्ड यही सात चौकीदार हैं, पूर्वी भारत के प्राकृतिक संतरी हैं, जो सहस्राब्दियों से चीन से सटकर, डटकर खड़े हैं और उसकी भेड़िया-निगाहों से रात-दिन जूझ रहे हैं।

न सिर्फ उत्तर भारत बल्कि मध्य हिंदुस्तान और संपूर्ण दक्षिणी भारत जिस खेती-किसानी के लिए युगों से जाना-पहचाना जाता है, ऐसा कुछ इन पूर्वोत्तर राज्यों पर लागू ही नहीं होता। असम को छोड़कर शेष किसी भी प्रदेश में हल-बैल के साथ खेत जोतता हुआ किसान शायद ही दिखे। धान का बीया रोपते समय पिछोटा मारकर झुकी हुई ग्रामीण स्त्रियों के प्राणवान गीत शायद ही इधर सुनाई पड़ें। खलिहान में कटी हुई फसलों की दंवाई करते हुए श्रैशर शायद ही कहीं नजर आए। कारण, कि यहां की धरती को निश्चिंत होकर दिशा-दिशा में समतल फेंल जाने को सुविधा नहीं मिली है। यहां की समतल जमीन दांतों के बीच में जीभ की तरह है, या मकानों के नीचे दुबककर जीती पतली गलियों की तरह। एकमात्र असम प्रदेश ही है, जो कुछ हद तक मैदानी शैली में खेती-बारी की धारणा को मजबूत करता है। फिर तो मन में जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है कि असम के अतिरिक्त शेष पूर्वोत्तर में कृषि-संस्कृति का मूल चेहरा क्या है? श्रम की किस नींव पर यहां का ग्रामीण समाज खड़ा है? किस पैदावार के दम पर यहां की ग्राम-सभ्यता पलती-बढ़ती और सांसें लेती है।

भारत और भारतीयों के हृदय से बहुत दूर पूर्वोत्तर भारत का साहित्य आज भी लोक साहित्य की श्रेणी में गिना जाता है। आजकल लोक साहित्य के प्रति एक और अघोषित पूर्वाग्रह है—भदेस, गंवई, अपरिष्कृत, साधारण और लगभग कलाहीन साहित्य। वह साहित्य जिसने मौजूदा समय और उसकी चाल-ढाल के अनुसार खुद को ढाल लेना नहीं सीखा है, जो अभी उपदेश, नीति, मूल्य और आदर्श के पुराने-धुराने व्यामोह में निश्चिंत होकर पल-बढ़ रहा है। यह एकमात्र असमिया साहित्य ही है, जिसने खुद को लोक साहित्य के दायरे से मुक्त किया है और आज अपनी स्तरीय सृजनात्मकता एवं जिम्मेदार यथार्थवादी लेखन के कारण राष्ट्रीय स्तर पर जाना-पहचाना जाता है। 'मामोनी रायसम गोस्वामी' के अतिरिक्त असमिया कथा साहित्य में रीता चौधरी (मकाम), मोनालिसा सैकिया (आंदोलित आकाश), प्रार्थना सैकिया (प्लेटफार्मत एतिया कोनो नाई), मौसमी कंदली, प्रशांत कुमार दास, सिद्धार्थ शंकर बेजबरूआ आदि अनेक सशक्त हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने असम की सामाजिक विषमताओं, राजनीतिक गंदगी, धार्मिक दुराचार, प्रशासनिक पतन को आधार बनाकर अविस्मरणीय कहानियों और उपन्यासों की रचना की है। असम के समाज में जाति व्यवस्था की जकड़न उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश से जौ-भर कम नहीं है। धान के चौरस, हरियर खेतों और डोरी की तरह लचककर नीले आकाश में निकल गए नारियल के पेड़ों वाले असमिया गांव बेरौनक चेहरे के हैं। गरीबी, लाचारी,



पराजय, आत्मग्लानि और निराशा के बारे में हमारी एक से बढ़कर एक जानकारी और सूचना को चार कदम आगे बढ़कर पुख्ता करने वाले प्राणशून्य चेहरे यहां गांव-दर-गांव में, मकान-दर-मकान में, भरे हुए हैं। तंगहाली निर्लज्ज नृत्य करती है इनके दैनिक जीवन में। इन्हें नहीं पता कि प्रथम श्रेणी का सफर सुख के किस सपने का नाम है। इन्होंने किसी-किसी पढ़े-लिखे बबुआ से सुना जरूर है पटना, दिल्ली, बनारस, कलकत्ता और बंबई का नाम, मगर वहां जाकर उसकी जादुई अबूझ दुनिया देखने की हिम्मत ये ताउम्र नहीं जुटा पाते। उत्तर प्रदेश की दलित, पिछड़ी जातियों के घरों की तरह एक-दो पशु, कामचलाऊ खेतिहर जमीन, नमक, तेल, सुर्ती भर की व्यवस्था के लिए कोई टुटपुंजिया रोजगार—ले-देकर इन्हीं चार-पांच गुमनाम जिम्मेदारियों और व्यस्तताओं के बीच इनका सीधा-सपाट

‘समकालीन भारतीय साहित्य’ के अलावा हिंदी साहित्य की अन्य पत्रिकाओं ‘युद्धरत आम आदमी’, ‘प्रगतिशील वसुधा’, ‘जनपथ’ आदि ने पूर्वोत्तर भारत के समकालीन लेखन को योजनाबद्ध जिम्मेदारी के साथ सामने लाने का प्रयास किया है, लेकिन यह प्रयास इतना उन्नत, व्यापक और प्रभावशाली न बन सका कि हिंदी की साहित्यिक दुनिया में उनकी विस्मृत महत्ता को मजबूती से स्थापित कर सके। मेघालय, नगालैण्ड, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलाव की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं, इसलिए उनके साहित्यिक मिजाज में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक है। कमोवेश पूर्वोत्तर की सभी प्रमुख या गैर प्रमुख भाषाओं के साहित्य में यथार्थवाद की धूम है। यह यथार्थवादी नजरिया मार्क्सवाद के कारण नहीं, उनके अपने सख्त जमीनी जीवन अनुभवों के कारण

आबाद किए हुए हैं और पिछले तीस-चालीस वर्षों से पूर्वोत्तर को अपनी कर्मभूमि, श्रमभूमि, आत्मभूमि बनाए हुए, दस-दस, बारह-बारह घंटे कठोर परिश्रम करते हुए यहां जीविका चला रहे हैं। ये बिहार में पैदा जरूर हुए लेकिन उनकी देह में पूर्वोत्तर की आत्मा बसी हुई है, शरीर में खून पूर्वोत्तर के अन्न का दौड़ता है, भाई-बंधु हित-दोस्त का दायरा पूर्वोत्तर भारत में निर्मित हुआ है। आधी उम्र काट दी इधर। अब नई आफत की आंधी में जाएं तो कहां जाएं? और क्यों जाएं? जहां की मिट्टी, हवा, पानी, रोशनी और खुले आकाश के नीचे अपनी आत्मा रच-बस गई, उसे सदैव के लिए छोड़ने का प्राणांतक दर्द क्या होता है, यह वही जानता है, जिस पर यह बीतता है। वे जल-मरकर भी अपनी यह कर्मभूमि त्यागने को तैयार नहीं और भाषाई हिंसा के अंधे शिकारी इन्हें यहां जीने देने के लिए तैयार नहीं। समकालीन असमिया कथा साहित्य में यह मर्मांतक दर्द पैदा करने वाला मुद्दा फिलहाल उपेक्षित है। वह किसी असमिया या हिंदी साहित्यिक की गहरी चिंता का केंद्रबिंदु नहीं बन पाया है। ठीक-ठीक मौजूदा वक्त में समूचा असम भीतरी आक्रोश, बेवशी और असंतोष की भट्टी में पक रहा है, चुपचाप लगातार सुलग रहा है। आम असमिया व्यक्ति ने बर्बाद आर्थिक व्यवस्था, दोगली राजनीति और रिश्वतखोर प्रशासन के सामने या तो सिर झुका लिया है, या फिर दिन-प्रतिदिन उसके खिलाफ तलखी को धार देने की हिम्मत जुटा रहा है। शिक्षित नौजवानों की बेरोजगारी लाइलाज स्तर तक बढ़ चुकी है। व्यावहारिक रूप में पारदर्शिता, व्यवस्था और न्याय का कोई अर्थ नहीं रह गया है। गांवों की स्थिति बाढ़ में भराभर कर टूटते दुर्बल किनारों की तरह है, जो यथाशक्ति स्थितियां नियंत्रित करते हैं, लेकिन हालात बिगड़ने पर अस्तित्व सबसे पहले उन्हीं का नष्ट होता है। समकालीन असमिया जीवन को अटूट आत्मीयता और मंजी हुई चिंता के साथ अभिव्यक्त करने वाले एक-दो नहीं, दर्जनों कथाकार सक्रिय हैं, शेष साहित्यिक दुनिया में अब

**ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक चित्र है शिवमूर्ति के यहां। तीस वर्ष का यह रचना-संसार ग्रामीण समाज की एक मुकम्मल दस्तान है। उनके पात्र संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं। संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं।**

जीवन ही खत्म हो जाता है।

इसमें दो मत नहीं कि पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में अलक्षित, अंधकारमय और गूंगे-गरीब असमिया समुदाय को सृजन के पन्नों पर चमक देने का दृष्टिकोण तेजी से विकसित हुआ है, लेकिन सवाल वही का वही कि वह चमक असम के बाहर कितनी दूर तक पहुंच रही है? और साधारण में भी साधारण, आम से भी आम, मामूली से भी कई गुना मामूली असमिया मनुष्य और तलजीवी समाज को अटूट जज्बे के साथ, निःशेष करुणा के साथ वह प्रकट कर पा रहा है या नहीं?

मेघालय में खासी, असम में बोड़ो, त्रिपुरा में कॉकबरक, मणिपुर मणिपुरी और नगालैण्ड में नागामीज साहित्य पूर्वोत्तर की दुर्गम सीमाओं से बाहर निकलकर अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाने को लगातार संघर्ष कर रहा है।

पैदा हुआ है। आज पूर्वोत्तर भारत में बेरोजगारी, नशाखोरी, भाषाई और नस्लीय हिंसा, पहाड़ी-मैदानी मानसिकता का तनाव शिखर पर है। मणिपुर, नगालैण्ड और अब असम में भी हिंदी बोलना, हिंदी भाषी होना अपराध हो गया है। आए दिन इन प्रदेशों से हिंदी भाषियों को दुत्कारकर, मार-मारकर, बस्तियां जलाकर खदेड़ा जला रहा है। सामूहिक हत्याएं की जा रही हैं। जन्म से अपनी अंतरात्मा की जुबान बन चुकी मातृभाषा को या तो वे बोलना बंद करें या फिर यह इलाका छोड़कर चला जाएं। ये हिंदी भाषी और कोई नहीं, दिहाड़ी मजदूरी करने वाले बिहारी आम जन हैं। भट्टों पर ईंट ढोने वाले, सड़कों पर मिट्टी पाटने वाले, नए-नए निर्माणाधीन उपक्रमों में मिस्त्रीगिरी करने वाले, परले दर्जे के सीधे और सरलता की मूर्ति हैं ये। ये सब पूर्वोत्तर के कस्बों में अपनी बस्तियां

**ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक चित्र है शिवमूर्ति के यहां। तीस वर्ष का यह रचना-संसार  
ग्रामीण समाज की एक मुकम्मल दास्तान है। उनके पात्र संघर्षशील हैं। यह संघर्ष उनका  
अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं। संघर्षशील हैं। यह  
संघर्ष उनका अकेला संघर्ष है। हमारे समय के प्रमुख प्रश्न उनकी रचनाओं में हैं।**

उनकी यथार्थपूर्ण कलम जानी-पहचानी भी जा रही है, किंतु ऐसी साहसिक, प्रखर और व्यापक रचनाशीलता जो मौजूदा असमिया आम जीवन को उनकी लाचारियों, गुमनामियों, सपनों, इच्छाओं, कमजोरियों और हसरतों के साथ हूबहू उद्भासित कर दे, फिलहाल दृश्य में नजर नहीं आता।

मणिपुर में कुकी, पैते, लुशाई, माओ और कबुई जैसी दर्जनों ऐसी जनजातीय भाषाएं हैं, जो सुबह से देर रात तक वहां के जन-जन के कंठ से समादृत होती हैं। खास मणिपुरी में ही हिजम गुणो सिंह (सौ वर्षों की कहानी), राजकुमार मणि, सोनामणि, प्रिया कुमार, यामिनी (समान अधिकार-कहानी) श्री बीरेन, जी पेमानंद (नोंदम-उपन्यास) आदि ऐसे कथाकार सक्रिय हैं, जिन्होंने सीधे-सीधे मणिपुरी जन समाज की समस्याओं एवं उनके सवाल को आवाज दी है। कहा जा सकता है कि मणिपुरी भाषा का कथाकार दरहकीकतों से सीधे टकराने में ज्यादा कुशल है। अब वह लोक कथाओं की पुरानी आदर्शपरक दुनिया से बाहर निकलकर यथार्थ की खुली हवा में सांसें लेने को बेताब है। कुछ ऐसी ही स्थिति यहां की खासी और नगा भाषा में भी देखी जा सकती है।

यहां ढलानों पर ठहरी हुई एकांत बस्तियां हैं, घाटियों में सोए पड़े सदियों के गांव हैं, जंगलात कबीले

हैं। जहां लाखों की संख्या में अंचल वासी सांसें लेते हैं, जीते-मरते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। जिनके लिए पूर्वोत्तर ही देश है, और शेष भारत अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस। इनके ज्ञान और चेतना के स्तर को इस रूप में समझिए कि बनारस इनके लिए कोई विदेशी जगह है। असम और अरुणाचल को छोड़कर शेष पूर्वोत्तर में सशक्त संपर्क भाषा का अभाव है। ले-देकर टूटी-फूटी, बिगड़ी, बाजारू हिंदी

ही है जो अपरिचय की दीवाल तोड़ने में काम आ रही है। अशिक्षित से अशिक्षित ग्रामीण जन यहां कामचलाऊ हिंदी बोल लेते हैं, समझ जाते हैं, यह मामूली संतोष की बात नहीं है। यहां के लोक साहित्य में आदिवासी जीवन का व्यापक यथार्थ नहीं, बल्कि सदियों पुराना उनका अधूरा आदर्श, काल्पनिक मूल्य और नीतिवादी मन प्रकट हुआ है। जबकि ठीक-ठीक मौजूदा वक्त में उनकी जटिल, आशाशून्य और कठोर जीवन-स्थितियां सृजन के किसी और फलक की मांग करती हैं। पूर्वोत्तर की आंचलिक दुनिया अब ठेठ-पुराने किस्म की आंचलिक नहीं है। अब वह आसपास के विकासशील शहरों में आवागमन कर रही है, छोटे-छोटे व्यवसाय, रोजगार कर रही है, इसलिए आर्थिक बदलाव के साथ-साथ उनकी मानसिकता के स्तर में भी फर्क आ रहा है। ग्रामीण जन की मनःस्थितियों में आया हुआ यह बदलाव यहां की सृजनशीलता की धुरी अवश्य बननी चाहिए।

□

## संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में ग्रामीण भारत

### अवधी

आग लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन  
पिय के भरल घइलवा भरि भरि दीन —रहीम

(घर में आग लगी, पिया को कलशी भर-भरकर आग बुझाने को देती रही, बहुत सुख मिला।)

### कुरंग के कुछ रंग

काहे गोलिया चलेला दनादन भइया  
तनी खड़ा होके सोचा एक छन भइया  
केहू के भरल सुटकेश, किसिम किसिम के डरेस  
केहू के मुअले पे मिले ना कफ़न भइया

गेहूं सारा गेरुई लै गई  
सरसों में माहू लाग,  
बरदा रहा महाजन ले इगा  
मेहरी पे चढुआ लाग

### लाचारी (अवधी)

सजनी ओहि देसवा पे गाज परै  
जौने देसवा के किसनवा राम भिखारी होइगै ना।  
माई ओनकर गोबर काढ़े बाप करै उटकारी,  
बेटवा ओनकर भैंस चरावै, सिगरी बदन उघारी,  
ओनेके जियरा के जरनिया जिमींदारी होइगै ना।